प्रथम संस्करण : १६५३ ईस्वी

तीन रुपया

मुद्रकः—राम आसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

## शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १५ | १६ | की | को |
| १६ | १२ | प्रभावित | प्रधावित |
| २१ | १७ | हन | हम |
| २१ | २७ | बल | बल से |
| २४ | ८ | उसमें | उसके |
| ३२ | २१ | तरह | तरह तरह |
| ३३ | ३ | और सखी, | सखी और |
| ३३ | २७ | चौपाई | चौपई |
| ३४ | २६ | भावना की | भावना को |
| ३५ | ३ | बनाता | बनाती |
| ३५ | ११ | कमर की | कमर को |
| ३५ | २६ | उज्ज्वल | उज्वल |
| ३७ | १६ | रहता | रहता है |
| ३७ | १८ | देख | देखा |
| ४५ | ६ | विधातु | विधातु |
| ४६ | १८ | जिनका | जिसका |
| ४६ | २५ | की हुई | किए हुई |
| ४७ | १ | उठाई | उठाए |
| ४८ | १३ | प्रसाद | प्रासाद |
| ४६ | ७ | जातिय | जातीय |
| ५० | १७ | तेरी | मेरी |
| ५१ | १० | वाली | वाले |
| ५३ | १६ | ऐन्द्रिक | ऐन्द्रयिक |

डा० धीरेन्द्र वमा का

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ५४ | ६ | सौन्दर्य को | सौन्दर्य की |
| ५५ | २० | उनके | उसके |
| ५५ | २५ | प्राणत्व | प्राण तत्व |
| ५६ | २ | प्रकाशन | प्रकाश |
| ५६ | १५ | अकांक्षाओं | आकांक्षाओं |
| ५६ | १७ | ने | से |
| ५६ | २४ | के संबंध में | ने संबंध |
| ५७ | १२ | बताने | बनाने |
| ५७ | १८ | आदेशों | आदर्शों |
| ५८ | १२ | एकता की | एकता के |
| ५८ | १८ | मनुष्य | मनुष्यों |
| ५९ | २ | का मुक्त | को मुक्त |
| ५९ | ३ | यंत्र युग का | यंत्र युग की |
| ५९ | ६ | मिलता | मिलती |
| ५९ | ७ | आने वाले | आने वाला |
| ५९ | १६ | आस्थों | आस्था |
| ५९ | २४ | परिणत | परिणति |
| ६० | ८ | आध्धात्मिक | आध्यात्मिक |
| ६९ | ८ | जिसको | जिसकी |
| ६९ | २५ | दर्शन | दर्शन के |
| ७० | १ | ओर | ओर |
| ७१ | २ | पृथ्वी का | पृथ्वी के |
| ७३ | २६ | नीलिका | नीलिमा |
| ७५ | १८ | सका | सकी |
| ७७ | १ | जीव | जीवन |
| ८२ | ८ | मूल्य | मुख्य |

# विषय सूची



---

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ८३ | २ | की | को |
| ८४ | १३ | इन | इस |
| ८७ | २५ | रस | इस |
| ८६ | १४ | उधर | इधर |
| ६१ | १ | हप्रारे | हमारे |
| ६६ | २ | इन | इस |
| ६७ | ८ | तभा | तथा |
| ६७ | २२ | नेतिक | नैतिक |
| ६६ | ३ | फो | को |
| १०६ | १६ | पास | पाश |
| १११ | १ | से | में |
| ११५ | २ | हिमाल | हिमालय |
| ११५ | २२ | मेरे | मेरी |
| १२१ | १० | जग जड़ | जड़ |
| १२१ | २६ | एकांकी | एकांगी |
| १२१ | २७ | एकांकी | एकांगी |
| १२२ | ६ | एंद्रियक | ऐंद्रयिक |
| १२३ | १ | ग्राम्य | ग्राम्या |
| १७४ | २२ | Camforted | Comforted |
| १७५ | २२ | वह | मन |
| १८२ | १० | मूल्य | मूल |
| १८३ | २४ | ह्वास | ह्रास |
| १८७ | १२ | वैचित्र | वैचित्र्य |
| १६२ | ८ | के ऊपर | से ऊपर |
| १६६ | २१ | तुच्छ | कृच्छ्र |
| १६७ | २३ | अनुष्य | मनुष्य |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २०२ | १८ | मान | ज्ञान |
| २०२ | १६ | ज्ञान | मान |
| २०३ | २१ | भेरा | मेरा |
| २०५ | ६ | अंतस्थल | अंतस्तल |
| २१३ | २० | भेरी | मेरी |

इनके अतिरिक्त विराम चिह्नों की अशुद्धियाँ पाठक कृपा कर स्वयं शुद्ध कर लें।

# प्रथम खण्ड

# प्रवेश

## ( क )

हिन्दी-कविता की नीहारिका, सम्प्रति, अपने प्रेमियों के तरुण-उत्साह के तीव्र-ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश में अत्यन्त-वेग से घूम रही है; समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिण्ड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित-पन्थ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित-सिद्धान्त निर्धारित कर लें; ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्त-व्यस्त केन्द्र-परिधि-हीन द्रवित-वाष्प-पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वस्थ-स्वरूप में घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा; हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी सुधा; हमारे प्रभात में कितना सोना होगा, रात में कितनी चाँदी!

पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात-परिधि पर निर्भर न रह कर अपने ही परिचय के अन्तरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है; जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नहीं पहुँचता था, वह उसे चिपटी मान कर भी चलता रहा; हम अपने प्रौढ़-पगों के लिए नहीं ठहरते, घुटनों के बल चलने के नियमों को सीख कर ही आगे बढ़ते हैं। सच तो यह कि हम भूमिका बाँधना नहीं छोड़ सकते।

अब ब्रजभाषा और खड़ी-बोली के बीच जीवन-संग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मैं साहित्य का ककहरा भी नहीं जानता था। उस सुकुमार-मा के गर्भ से जो यह ओजस्विनी-कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी में विद्युत है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह "पिय" को "प्रिय" कहने लगी है। उसका किशोर-कण्ठ फूट गया, अस्फुट अङ्ग कट-छँट गये, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट-स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चञ्चलता दृष्टि में आ गई, वह विपुल विस्तृत

हो गई; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई; चारों दिशाओं से त्रिविध-समीर के झोंके उसके चित्त को रोमाञ्चित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौंदर्य, मेघ में नवीन गर्जन सुनाई देने लगा। वह अज्ञात-यौवना कलिका अब विकसित हो गई; प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल-मुख चूम, उसे अजस्र-आशीर्वाद दे दिया; चारों ओर से भौंरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायु-मण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया; विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय-मधु भर दिया है।

उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु-ऋतु थी; उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी; उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी-मानस* उमड़ चला! आज भी वह कुछ हाथों की तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे-छिद्रों से दो-एक दन्त-हीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने, तथा प्रवीण कला-कुशल बाज़ीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद, ये प्राण-हीन केंचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आयँगी। लेकिन यह अपवाद ही खड़ी-बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पाञ्चजन्य उठा लिया; सुप्त-देश की सुप्त-वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी-बोली उस जाग्रति की शङ्ख-ध्वनि है। ब्रज भाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जाग्रति का स्पन्दन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।

ब्रज भाषा के मोम में भक्ति का पवित्र-चित्र, उसके माखन में शृङ्गार की कोमल करुण-मूर्ति ख़ूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झङ्कार है, उसके स्वर में शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक-शान्ति ही ब्रज-भाषा के रूप में बदल गई। वह था सम्राट् अकबर,

---

*ब्रज-भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक-हिन्दी से है, जिसमें 'अवधी' भी शामिल है।

जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित राज्यकाल: जिनकी निर्द्वन्द्व छत्र-छाया में उनकी शान्ति-प्रियता, कला-प्रेम तथा शासन-प्रबन्ध-रूपी विपुल खाद्य-सामग्री पाकर चिर-काल से पीड़ित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों में लहलहा उठा। राजा महाराजाओं ने स्वयं अपने हाथों से सङ्गीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा, कलाविदों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। सङ्गीत की आकाश-लता अनन्त-झङ्कारों में खिल-खिल कर समस्त वायु-मण्डल में छा गई, मृग चरना भूल गये, मृगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा-सिञ्चित राग-रागिनियाँ—जिन्हें कहीं शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रखे हुए धरा मेरु डाँवाडोल हो जायँ, इस भय से विधाता ने उसे कान नहीं दिये—अभी तक हमारे वसन्तोत्सव में कोकिलाओं के कण्ठों से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओं की पावस-हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर-बाहर राजप्रासादों को लपेट लिया। चतुर चित्रकारों ने अपने चित्रों में भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरों की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पड़ता है, अपनी अनिमेष-चितवन की अचञ्चल-बरुनियों, अपने भाव-मुग्ध हृदय के तन्मय रोओं से चित्रित की। शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष में अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल में मानो शिल्पकला ही गला कर ढाल दी गई।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियों के अनिन्द्य-पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्द-सौरभ तथा अनन्त मधु से राशि-राशि भौंरों को मुग्ध कर रहे हैं;—वहाँ कूल, केलि, कछार, कुञ्जों में, सर्वत्र असुम-वसन्त शोभित है। बीचों बीच बहती हुई नीली यमुना में, उसकी फेनोज्ज्वल चञ्चल तरङ्गों-सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे-छिपे अभिसार करती, भौंरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहों ऋतुएँ कल्पना के बहुरङ्गी-पङ्खों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन-वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आस-पास "आनन-ओप-उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है।

हो गई; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई; चारों दिशाओं से त्रिविध-समीर के झोंके उसके चित्त को रोमाञ्चित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौंदर्य, मेघ में नवीन गर्जन सुनाई देने लगा। वह अज्ञात-यौवना कलिका अब विकसित हो गई; प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल-मुख चूम, उसे अजस्र-आशीर्वाद दे दिया; चारों ओर से भौंरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायु-मण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया; विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल में स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय-मधु भर दिया है।

उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु-ऋतु थी; उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूँक थी; उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिटास से तुलसी-मानस* उमड़ चला! आज भी वह कुछ हाथों की तूंबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे-छिद्रों से दो-एक दन्त-हीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने, तथा प्रवीण कला-कुशल बाज़ीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद, ये प्राण-हीन केचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आयँगी। लेकिन यह अपवाद ही खड़ी-बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पाञ्चजन्य उठा लिया; सुप्त-देश की सुप्त-वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी-बोली उस जाग्रति की शङ्ख-ध्वनि है। ब्रज भाषा में नींद की मिटास थी, इसमें जाग्रति का स्पन्दन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।

ब्रज भाषा के मोम में भक्ति का पवित्र-चित्र, उसके माखन में शृङ्गार की कोमल करुण-मूर्ति ख़ूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झङ्कार है, उसके स्वर में शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक-शान्ति ही ब्रज-भाषा के रूप में बदल गई। वह था सम्राट् अकबर,

---

*ब्रज-भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक-हिन्दी से है, जिसमें 'अवधी' भी शामिल है।

जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित राज्यकाल; जिनकी निर्द्वन्द्व छत्र-छाया में उनकी शान्ति-प्रियता, कला-प्रेम तथा शासन-प्रबन्ध-रूपी विपुल खाद्य-सामग्री पाकर चिर-काल से पीड़ित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों में लहलहा उठा। राजा महाराजाओं ने स्वयं अपने हाथों से सङ्गीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा, कलाविदों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। सङ्गीत की आकाश-लता अनन्त-झङ्कारों में खिल-खिल कर समस्त वायु-मण्डल में छा गई, मृग चरना भूल गये, मृगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा-सिञ्चित राग-रागिनियाँ—जिन्हें कहीं शेषनाग सुन ले तो उसके सिर पर रखे हुए धरा मेरु डाँवाडोल हो जायँ, इस भय से विधाता ने उसे कान नहीं दिये—अभी तक हमारे वसन्तोत्सव में कोकिलाओं के कण्ठों से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओं की पावस-हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर-बाहर राजप्रासादों को लपेट लिया। चतुर चित्रकारों ने अपने चित्रों में भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरों की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पड़ता है, अपनी अनिमेष-चितवन की अचञ्चल-बरुनियों, अपने भाव-मुग्ध हृदय के तन्मय रोओं से चित्रित की। शाहज़ादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष में अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल में मानो शिल्पकला ही गला कर ढाल दी गई।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियों के अनिन्द्य-पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्द-सौरभ तथा अनन्त मधु से राशि-राशि भौंरों को मुग्ध कर रहे हैं;—यहाँ कूल, केलि, कछार, कुञ्जों में, सर्वत्र असुम-बसन्त शोभित है। बीचों बीच बहती हुई नीली यमुना में, उसकी फेनोज्ज्वल चञ्चल तरङ्गों-सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे-छिपे अभिसार करती, भौंरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहों ऋतुएँ कल्पना के बहुरङ्गी-पङ्खों में उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन-वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आस-पास "आनन-ओप-उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है।

चपला की चञ्चल-डोरियों में पैंग भरते हुए नये बादलों के हिंडोरे पर झूलती हुई इन्द्र-धनुषी सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की घमक में हिंडोरे की रमक मिला रही हैं। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता में अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र-मण्डल उसके श्री-चरणों पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलङ्कारों की झनक ने देह-वीणा से फूट कर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलों में काँटे नहीं, फूल ही विरह से सूख कर काँटों में बदल गये हैं;—वह कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम के पलकों में सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय में स्वर्ग का बिम्ब है, मनोवेगों की अराजकता है। सच है, "पल पल पर पलटन लगे जाके अङ्ग अनूप" ऐसी उस ब्रज-बाला के स्वरूप को कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अञ्चल-छोर उसके उपासकों के श्वासोच्छ्वासों के चार-वायु में उमड़ा हुआ, नीलाकाश की तरह फैल कर, कभी आध्यात्मिकता के नीरव-पुलिनों को भी स्पर्श कर आता है, पर कामना के झोंके शीघ्र ही सौ-सौ हाथों से उसे खींच लेते हैं। वह ब्रज के दूध दही और माखन से पूर्ण-प्रस्फुटित-यौवना अपनी बाह्य-रूप-राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत् के सौंदर्य के उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिलता, निःसन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है,—यह उस युग का नन्दन-कानन है! जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वल-कारिणी स्निग्ध चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीप-शिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत-शत ध्वनिपूर्ण-कल्लोलों में विलोड़ित बाह्य स्वरूप है, यह उसका गम्भीर, निर्वाक्-अन्तस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण-गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के शासक भी; जो प्रातःस्मरणीय पुरुष इतिहास के पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु वल्लभाचार्य, नानक इत्यादि नामों से स्वर्णाङ्कित हैं; इतिहास के ही नहीं, देश के हृत्पृष्ठ पर

उनकी अक्षय अष्ट-छाप, उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स-चिह्न अमिट और अमर है। इन्हीं युग-प्रवर्तकों के गम्भीर-अन्तस्तल से ईश्वरीय-अनुराग के अनन्त-उद्गार उमड़ कर, देश के आकाश में घनाकर छा गये। ब्राह्मणों के शुष्क-दर्शन-तत्वों की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय-वायु-मण्डल भक्ति के विशाल श्यामघन से सरस तथा सजल हो गया; राम-कृष्ण के प्रेम की अखण्ड रस-धाराओं ने, सौ-सौ बौछारों में बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूर-सागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी-मानस!

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूर-सागर? वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि?—उसमें अमूल्य-रत्न हैं। उसकी प्रत्येक-तरङ्ग श्याम की वंशी की भुवन-मोहिनी-तान पर नाचती, थिरकती, भक्तों के भूरि-हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार में पड़ी सौ-सौ पुरानी-नावों को पार लगाती, असीम की ओर चली गई है! वह भगवद्भक्ति के आनन्दाधिक्य का जल-प्रलय है, जिसमें समस्त-संसार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय-प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है, जिसमें एक बार पैठ कर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ में गिरे हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड़ कर निकाल सकें, पर जो एक बार "सागर" में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते! सूर-सूर की वाणी। भारत के "हिरदै सों जब जाइहौ मरद बदौंगो तोहिं!"

और रामचरित-मानस? उस "जायो कुल मङ्गन" का "रत्नावली" से ज्योतित मानस? उस—

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलङ्क,

उन सन समता पाय किमि, चन्द्र बापुरो रङ्क"—"तुलसी शशी" की उज्ज्वल-ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस? वह हमारी सनातनधर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म शरीर है। भारतीय-सभ्यता का विशाल-आदर्श है, जिसमें उसका सूर्योज्ज्वल-मुख स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वह तुलसीदासजी के निर्मल-मानस में अनन्त का अक्षय-प्रतिबिम्ब है। उसकी सौ-सौ तारक-चुम्बित सरल-तरल-वीचियों के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादा-

पुरुषोत्तम की पवित्र-पद-रेणु से परिपूर्ण है! मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय-अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्रीसीताराम की पुण्य-स्मृति चिरन्तन-सुप्ति में जाग्रत है। —ये दोनों काव्य-रत्न भारती के अक्षय-भण्डार के दो सिंह-द्वार हैं, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियों की पावन-वाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्झरों के रूप में फूट कर व्रज-भाषा के साहित्य-समुद्र में भर गया, उनमें हम उस साखियों के सम्राट्, उस फूलों की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल-हीन स्वर्ण-पङ्कज, उस स्वर्गीय-संगीत के जुलाहे के साथ—जिसने अपने सूक्ष्म ताने-बाने में गगन का "शब्द-अनाहद" बुन दिया—एकान्त में अपने गोपाल की मूर्ति से बातें करने वाली उस मीरां को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजस्थान के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया है; उसने शब्दों में नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया!—ऐसा था अपार उस युग के मधु का भाण्डार, जिसने व्रज-भाषा के छत्ते को लबालब भर दिया; उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस व्रज के वन में झाड़-झंखाड़ करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा-आलाप, उसके कृमिल-पङ्किल गर्भ में जीर्ण अस्थि-पञ्जर, घोंघे, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचों-बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृग-तृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न, कालानिल के झोंकों से बचे हुए, यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। उस व्रज की उर्वशी के दाहने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक-पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गुदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार सङ्कीर्णताएँ हैं!

अधिकांश भक्त-कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की सङ्कीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गये; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गया तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सका, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई! रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके; अनन्त नीलाकाश को एक छोटे-से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गये। सहस्र दादुर उसमें छिप कर टर्राने लगे; समस्त वायुमण्डल घायल हो गया, यमुना की नीली-नीली लहरें काली पड़ गईं। भक्ति के स्वर में भारत की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारों में बरसा दी। ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़ कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज में, सौ-सौ यत्नों में लपेटी हुई देश की समस्त आबाल-वृद्धाएँ, नग्नप्राय कर, भारतीय-गृहस्थ के बन्द-द्वारों से बाहर निकाल दीं; उनके कभी इधर-उधर न भटकनेवाले सुकुमार पाँव संसार के सारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृह-लक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गईं।

शृङ्गार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर 'नायिका' के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त,—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृग लोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे,—उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम-दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिण-ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्व-व्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर-प्रतिभा! एक ही शरीर-यष्टि में समस्त-ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति-काया को जरा-मरण का भय? क्या इनकी 'नायिका', जिसके वीक्षण-मात्र से इनकी कल्पना तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी?

इसी विराट्-रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुषधर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के बीभत्स समुद्र को मथ कर इन्होंने कामदेव को नव-जन्म दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है? इन

वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया ! 'एक के भीतर बीस' डिब्बेवाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर सहस्र-नायिकाओं के स्वरूप दिखला दिये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले पारे से मढ़े हुए कच्चे काँच के टुकड़ों का एक ऐसा विचित्र अजायब-घर, 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय-व्यूह-शीशमहल' बना दिया कि आर्य-नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रङ्ग-बिरङ्गी बिम्बों में बदल गई,—जिनकी भूलभुलैया में फँस कर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया !

और इनकी वियोग-वह्नि ने क्या किया ? इनकी और्व के नेत्रों की ज्वाला-सी आह ने ? देश की प्राण-सञ्चारिणी, शक्ति-सञ्जीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में बदल दिया ! सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जल कर छार हो गये; शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये; पवित्र प्रेम का चन्दन-पङ्क सूख गया; भारत का मानस भी दरक गया; और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गई; शक्ति की कमर खो गई, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया।

ऐसी थी इनकी वीभत्स, विकार ग्रस्त विलासपुरी ! और इनकी भाषालङ्कारिता ? जिसकी रङ्गीन डोरियों में वह कविता का हैंगिंग गार्डन—वह विश्व-वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है ?

बहत्तर-ग्रन्थों के रचयिता, 'नभ-मण्डल' के समान देव; 'देखन के छोटे लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा ससुराल'; रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होने वाले, कठिन काव्य के प्रेत, पिङ्गलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडगन-केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास-वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सब में अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खञ्जन, शङ्ख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमाञ्चित होना, दूत भेजना, कराहना,

मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना;—बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत-शत रस-धारों में फूट रहा है; सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सङ्ग रपट पड़ती, कभी नीर भरी गगरी ढरका देती है! वीथियों में पराई पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धूतपन' वापी नहाने का बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीक-लीक की ललाई के कारण प्रकट हो ही जाता है; कुञ्जों से उद्दाम यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन-पत्रों के झरोखों से 'दीरघ-दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं।

भाव और भाषा का ऐसा शुक-प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त सङ्गीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया। और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया!—आँख की उपमा? खञ्जन, मृग, कञ्ज, मीन इत्यादि; होठों की? किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि; और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की? शुक, दादुर, ग्रामोफ़ोन इत्यादि। ब्रज-भाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, उसके कोमल-वक्ष में इनके अत्याचार के नख-क्षत, उसके सुकुमार अङ्गों में इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य-ताप सदा के लिए बना ही रहेगा! उसकी उदार-छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया!। ऐसा किमाकार-रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू-लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृङ्खलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता!

इस तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि-पुङ्गव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को,—नायिका के अङ्गों को चाटते-चाटते रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिए—कभी-कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं। और वीर तथा रौद्र-रस को कविता

लिखने के समय तो ब्रज-भाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो एक भूषणादि रसावतारों को, जिन्हें मूछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होंने एक लाख रुपए के नोंन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही में भर दी, और जिनका हृदय "सस्सस्सुन धुन, जज्जज्जकि जन, डड्डुरि हिय, धद्धद्धड़कत" इत्यादि अनुप्रासों के कम्प-ज्वर की उच्छृङ्खल बड़बड़ाहट को सुनकर 'धद्धद्धड़कने' लगा, अपनी वीर-गर्भा कविता के कवच में इधर-उधर से कड़ी कड़ियाँ छान-बीन कर लगानी पड़ीं।

यह है केवल दिग्दर्शन-मात्र, नयन-चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नहीं कि उस तीन-चार शताब्दियों के ओर-छोर व्यापी विशाल-युग का संक्षिप्त सिंहावलोकन-मात्र करने में मुझसे उसके स्वर्ण-सिंहासनासीन भारती के पुत्र रत्नों के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो; पर मेरा उद्देश्य, केवल, ब्रज-भाषा के अलङ्कृत-काल के अन्तर्देश में अन्तर्हित उस काव्यादर्श के वृहत्-चुम्बक की ओर इङ्गित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टाएँ काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई हैं। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी-प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमें उसका घर घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञान-वृद्ध, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त नहीं हो सकेगी।

× × ×

ब्रज-भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अञ्चल-छाया में, सौन्दर्य का काश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों, विहग-कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारों से गूँथ देता हो, सहस्र-रंगों की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्र-धनुष अर्ध-प्रसुप्त पड़ा हो, जहाँ सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न देखती हो,—पर उसका वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश

ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी; द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-वृक्ष, पुष्प-पौधे, पशु-पक्षी; विविध प्रदेशों का जल-वायु, आचार-व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात-उत्पात्त, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके; बाँधा जा सके; जिसके पृष्ठों पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन-विज्ञान, इतिहास-भूगोल, राजनीति-समाजनीति, कला-कौशल, कथा कहानी, काव्य नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हमें भाषा नहीं, राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके; जो कालानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुञ्चित, कोमल-कठोर घात-प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट स्वरूपों में तरङ्गित-कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो, हँसती-गरजती, चढ़ती-गिरती, सङ्कुचित-प्रसारित होती, हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव, चीत्कार-किलकार, सन्धि-सङ्ग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में; हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो; हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो; हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक् हों, वाद्ययन्त्र के पृथक्; हमारी भाव-तन्त्री तथा शब्द-तन्त्री के स्वरों में मेल न हो; मूर्धन्य "ष" की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागों में बाँट दी जाय! हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फैशन की मिस्सी पसन्द नहीं, जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक-उज्ज्वलता रँग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल-कुल आउट-आव्-डेट हो गई है! यह नकाब पहना हुआ हास्यप्रद-चेहरों का नाच

हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते-बुने, अपनी ही इच्छा के रङ्ग में रँगे वस्त्र चाहते हैं, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यों न हों, इसी में हमारे वाणिज्य-व्यवसाय, कला-कौशल की कुशल-क्षेम है, कल्याण है। हमारे युग की रम्भा अपने जीवन नूपुर-नृत्य के जो मधुर-मुखरित अविरत पद-चिह्न हमारे देश के वक्षःस्थल पर छोड़ रही है, उन्हें अपने ही हृत्स्पन्दन में प्रतिध्वनित करने के बदले, हम ब्रज के मधुमल के कृत्रिम साँचे में अङ्कित करना नहीं चाहते। हमें देश-काल की उपेक्षा करनेवाले, अपने राष्ट्र के भाग्य-विधाता के विरुद्ध खड़े होकर झाड़-झङ्खाड़मय नवीन कुरूप-सृष्टि करने वाले इन ब्रज-भाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं; इनकी प्राचीन ब्रज-भाषा की काशी, हमारे संसार से बाहर, इन्हीं की अहम्मन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती; उसकी अन्धी-गलियों में आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता; काल की त्रिवेणी में—जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल-जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल सङ्गम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है!

खड़ी-बोली में चाहे ब्रज-भाषा की श्रेष्ठतम-इमारतों के होड़-जोड़ की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मन्दिरों में वैसी बेल-बूटेदार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओं में अजन्ता का-सा अद्भुत अध्यवसाय, चमत्कार विविध-वर्णों की मैत्री, तथा अपूर्व हस्त-कौशल उसकी छोटी-मोटी, इस पत्थर के काल की मूर्तियों में, सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूर्णता न मिले; उसमें अभी मानस के से पवित्र घाटों का अभाव हो,—पर उसके राजपथों में जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न-भिन्न स्थानों को आने-जानेवाले यात्रियों के लिए जो रथ तथा यानों के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा; उसकी हाट-बाट विपणियों में जो वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण-वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास वैचित्र्य का आयोजन है, देश-प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थों के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है; उसके पार्कों में जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता पुष्पों की भिन्न-भिन्न ढाँचों में खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार रङ्ग-बिरंगी क्यारियाँ सामयिक-रुचि की कैंची से कटी-छँटी जो विविध-स्वरूपों को

झाड़ियाँ, गुल्म, वृक्षावलियाँ; नव-नव आकार-प्रकारों में विकसित तथा सिञ्चित कुञ्ज, लता-भवन और वेलि-वितान अभी हैं, वे असन्तोषप्रद नहीं; उसमें नये हाथों का प्रयत्न, जीवित-साँसों का स्पन्दन, आधुनिक-इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद-चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन-युग की नवीन-सृष्टि का समावेश है। उसमें नये कटाक्ष, नये रोमाञ्च, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नवीन हृत्कम्पन, नवीन-वसन्त, नवीन-कोकिलाओं का गान है!

इन बीस-पचीस बरसों के छोटे-से विस्ते में खड़ी बोली की कविता के मूल देश के हृदय में कितने गहरे चले गये; उसकी शाखा-प्रशाखाएँ चारों ओर फैल कर हमारी खिड़कियों से धीरे-धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगीं; किस तरह वायु के झोंकों के साथ उसके राशि-राशि पुष्पों की अर्धस्फुट-सौरभ हमारे कमरों में समाने, साँसों के साथ हृदय में प्रवेश करने लगी, उसकी सघन-हरीतिमा के नीड़ों में छिपे कितने पक्षी, बाल-कोकिलायें, तरुण-पपीहे, तथा प्रौढ़-शुक, सहस्र स्वरों में चहचहाने तथा सुधावर्षण करने लगे, उसके पत्र हिल-हिलकर किस तरह हमारी ओर संकेत करने लगे, उनकी अस्फुट, मर्मर में हमें अपनी विश्व-व्यापी उत्थान-पतन, देश-व्यापी आशा-निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष-विषाद की, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियों की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है; इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं।

खड़ी बोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल-कला में भावी की लोकोज्ज्वल-पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वर्गङ्गा है, जिसके अस्पष्ट ज्योति-पुञ्ज में, न जाने, कितने जाज्वल्यमान सूर्य-शशि, असंख्य ग्रह-उपग्रह, अमन्द नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य-लोक अन्तर्हित हैं! वह समस्त भारत की हृत्कम्पन है, देश की शिरोपशिराओं में नव-जीवन सञ्चारिणी सञ्जीवनी है; वह हमारे भगीरथ-प्रयत्नों से अर्जित, भारत के भाग्य-विधाता की वरदान-स्वरूप, विश्व-कवि के हृत्कमण्डल से निःसृत अमृत-स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुप्त-देश के कर्ण-कुहर में प्रवेश कर उसे जगा दिया; जिसकी विशाल-धारा में हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्ण-यान, आर्य जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये,

धर्म और ज्ञान की निर्मल-पालों को फहराता हुआ अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कलाकौशल, तथा नीतिविज्ञान की विपुल रत्न-राशियों से सुसज्जित, बाधा-बन्धनों की तरङ्गों को काटता, दिव्य-विहङ्गम की तरह क्षिप्र-वेग से उड़ता हुआ, संसार के विशाल सागर-सङ्गम की ओर अग्रसर हो रहा है! उसके चारों ओर शीघ्र ही हमारे धर्म के पुण्य-तीर्थ तथा पवित्राश्रम स्थापित हों, हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हों!

( ख )

भाषा संसार का नादमय-चित्र है, ध्वनिमय-स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झङ्कार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषतायें, भिन्न-भिन्न जातियों तथा देशों की सभ्यता की विशेषतायें हैं। संस्कृत की देव-वीणा में जो आध्यात्मिक-सङ्गीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्द-तन्त्रियों में नहीं; और पाश्चात्य-साहित्य के विशद यन्त्रालय में जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती-भवन में नहीं।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य-सत्य है, एक अनित्य; अनित्य-सत्य के क्षणिक पद-चिह्न संसार की सभ्यता के राज-पथ पर बदलते जाते; पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य-सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अङ्कित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय-वृत्त का छोटा-सा खण्ड-मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वल्प तरङ्ग-मात्र है, जिसका अपना विशेष-स्वरूप, विशेष आकार प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती; जो अपने सद्य-स्वर में सनातन सत्य के एक विशेष-अंश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायु-मण्डल में गूँज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दों तालों में, नवीन रागों स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता; नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन

स्पन्दन-कम्पन, तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण-पतझड़ इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन-युग संसार की शब्द तन्त्री में नूतन-ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता; नवीन युग की नवीन आकाङ्क्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नई रागनियाँ नई कल्पनायें तथा भावनायें फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री बन, भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का सञ्चार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर-अंश हमारे हृद्गत-संस्कारों, विचारों, हमारी प्रवृत्तियों, मनोवेगों, हमारी इन्द्रियों तथा दैनिक क्रिया-कम्पनों से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक-प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अतिविश्वास मात्र है उससे हम अपने को पृथक् नहीं कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणों का स्पन्दन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनों अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

हिन्दी के जिन वयोवृद्ध-आचार्यों की ब्रज-भाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता है, जो खड़ीबोली को काव्य की भाषा का स्थान देने में भी सशङ्कित रहते हैं, उसका मुख्य-कारण उनके यही हृद्गत-संस्कार हैं, जिनसे उनकी रुचि का रक्त बन चुका, जो उनके भाव-अनुभावों की स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवाहित होकर, उनके आदर्श को अपने रङ्ग में रँग चुके, अपने स्वर में गढ़ चुके हैं। मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षों की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मांस-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झङ्कारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गये हों; जैसे साहित्यकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के "प्राण" चिरकाल से क्षय-रोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हों। 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कोनों को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गये हों। खड़ी बोली का 'स्थान' मुझे साफ़, सुथरा, निवास के उप-

युक्त जान पड़ता है; और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्री-हीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रज-भाषा की क्रियायें भी—'कहत' 'लहत' 'हरहु' 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनि-लोक निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त-ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोप-शिराओं में प्रभावित हो, अनेकता में एकता का सञ्चार करता; यही विश्व-वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झङ्कारों, असंख्य स्वरों में फूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता; यही संसार के मानस-समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं-आकांक्षाओं, भावनाओं-कल्पनाओं की तरङ्गों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर-अतृप्त स्वर्ण-भृङ्ग एक अनन्त-गुञ्जार में मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंच कर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक-भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत-मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झङ्कार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार शब्द भी; ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़ कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले

लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है; लक्ष और मल-द्वीप की तरह कविता भी अपने बनानेवाले शब्दों की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता में सामञ्जस्य रहता है, वहाँ कोमल-मा तथा कठोर-पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अङ्ग-विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरों में उच्छ्वसित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले पंख फैला, क्षण भर चञ्चल लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गई! जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा; न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा—'मत्स्य!' उस कवि का समस्त आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम रोमाञ्च तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्छप् शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछल कर फिर अपनी ही चञ्चलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला-नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है!

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः सङ्गीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, 'भौहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में

अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, 'तरङ्ग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पङ्ख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पत्ती के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अंगरेज़ी का 'wing' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रज-भाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अँगरेज़ी के 'air' में एक प्रकार की transparancy मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे ख़स की टट्टी से छन कर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिँच कर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभञ्जन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, । 'प और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके, शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झङ्कार में चित्र, चित्र में झङ्कार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूँघते

ही साँसों द्वारा अन्दर पैठ कर हृद्याकाश में समा जाय; जिनका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समा कर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन-जड़ता के अन्धकार को भेद कर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे; जिनका प्रत्येक चरण प्रियङ्गु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमाञ्चित रहे; जापान की द्वीप मालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोछ्वासों के भूकम्प में काँपती रहें!

भाव और भाषा का सामञ्जस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों; कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से जग कर, एक अनिर्वचनीय-आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में कूक उठा हो, एक रहस्य-पूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो; अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट पड़ने के के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झङ्कारों में नृत्य करने लगा हो; भावनाओं की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिङ्गन-पाश में बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहे बढ़ाने लगीं हों;—यही भाव और स्वर का मधुर-मिलन, सरस-सन्धि है। हृदय के कुञ्ज में छिपी हुई भावना मानों चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद प्रियतम से मिली हों, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु-समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं। व्रज-भाषा के अलङ्कृत-काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलङ्कारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ-वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं! उस "सूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली व्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलङ्कारों

के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल-अंगों में कलम के नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता; उस बालिका के अस्थि-हीन-अंग खींच-खाँच, तोड़-मरोड़ कर, प्रोक्रस्टीज़ की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चार पाई में बाँध दिये, फ़िट कर दिये गये हैं ! प्रत्येक पद्य, Messrs Whiteaway Laidlaw and Co के Catalogue में दी हुई नर-नारियों की तस्वीरों की तरह,—जिनकी सत्ता संसार में और कहीं नहीं,—एक नये फैशन के गौन या पेटी-कोट, नई हैट या अण्डर-वियर, नये विन्यास के अलङ्कार-आभूषण अथवा वस्त्रों के नये-नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष-द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झङ्कारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल-लहरियों, तरुण-तरंगों में फूट गई हों; कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फ़िट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण-जड़ता में बँध-कर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनायें केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यञ्जना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामञ्जस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पङ्ख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ—वे अभीप्सित

स्थान में पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वयं अभीप्सित-स्थान, अभीप्सित-विषय बन जाते हैं; वहाँ बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है, काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव शरीर रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संग्रहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र-सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं; तब भिन्न-भिन्न आकारों में कटी-छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती हैं; उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल-करों का, मायावी-स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण-खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार सङ्गीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता हम केवल राग के सिन्धु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते, उनकी लँगड़ाहट में गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में, उसके रङ्ग-विरंगे पुष्पों, लाल-हरे-पीले, छोटे-बड़े तृण-गुल्म-लताओं, ऊँची-नीची सघन-विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया-ज्योति की रेखाओं, तथा पशु-पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य-रहस्य उनके एकान्त-सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता, और उनमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्र-जाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी, परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक दूसरे के बल सशक्त रहते; अपनी सङ्कीर्णता की झिल्ली

तोड़, तितली की तरह, भाव तथा राग के रङ्गीन पङ्खों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह, अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।

व्रज-भाषा के अलङ्कृत काल में सङ्गीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दों का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जाती; उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध-झङ्कारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (magnetic field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता; उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सङ्गीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँख-मिचौनी षड् ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन,—सृजन, स्थिति, संहार,—सब एक अनन्त-छन्द, एक अखण्ड-सङ्गीत ही में होता है।

भौगोलिक-स्थिति, शीत-ताप, जल-वायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण-सङ्गीत में भी विभिन्नता आ

जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके सङ्गीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत का सङ्गीत समास सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृङ्खलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ-श्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड़, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता; एक कोना पकड़ कर हिला देने से सारा चरण ज़ञ्जीर की तरह हिलने लगता है। शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत में वर्ण-वृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ; उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि संस्कृत के छन्दों में अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसके लिए स्थान ही नहीं मिलता। वर्णिक छन्दों में जो एक नृपोचित गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के सङ्केतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई जाती, तुक का अङ्कुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के सङ्गीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमें वर्ण-वृत्तों की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार वर्ण-वृत्तों के कारण संस्कृत में अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दों की। उसमें पर्यायों की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे-बड़े चढ़ाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्छनाओं लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। वर्ण-वृत्तों के निर्माण में विशेषणों तथा पर्य्यायों से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणों की मीड़ों से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि ripple, billow, wave, tide आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद-द्योतक शब्दों के गढ़ने की ओर संस्कृत के कवियों का उतना ध्यान नहीं रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दों के बढ़ाने की ओर।

संस्कृत का सङ्गीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल-लहरों का चञ्चल कलरव, बाल झङ्कारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र-हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र-अङ्ग-भङ्गी, स्वाभाविक-साँसें हैं। हिन्दी का सङ्गीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता

छनकता, बुद्बुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर पगों से पग मिलाकर सेनाकार नहीं चलते; बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नहीं, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का सङ्गीत केवल मात्रिक-छन्दों ही में अपने स्वाभाविक-विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चञ्चल-नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्-कल् छल्-छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य-दृस सरल मुख-मुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चञ्चल भृकुटिभङ्ग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चञ्चल-पदों से स्वाभाविक-नृत्य छीन कर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिन-गिन कर पाँव उठाना सिखला कर, उनकी चञ्चलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बाँध दिया है। हिन्दी का सङ्गीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते; बँगला भाषा का सङ्गीत आलाप-प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठों के तटों से टकराती, ऋजु-कुञ्चित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्द-राशि को झकोरती, धकेलती, चढ़ती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्वदीर्घ के पलड़ों में सक्षम-रूप से नहीं तुले मिलते; उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँगरेज़ी की तरह बँगला में भी स्वरपात (accent)

अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अँगरेज़ी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दों में कम्पोज़ कर कस दिये जायँ, तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे, ( diamond cut ) के होते हैं, वैसे बँगला और अँगरेज़ी के नहीं, वे जैसे लिखे जाते वैसे नहीं पढ़े जाते। बँगला के शब्द, उच्चारण की धारा में पड़, स्पञ्ज (sponge) के टुकड़े की तरह स्वर से फूल उठते; और अँगरेज़ी के शब्दों का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गल कर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला में, अधिकतर; अक्षर-मात्रिक छन्दों में कविता की जाती है। पुराने वैष्णव-कवियों के अतिरिक्त,—जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढङ्ग अपनाया,—अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती हैं; इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक सङ्गीत विनष्ट भी हो जाता; रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ में बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ऐ' 'औ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोड़कर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ में—एक ही मात्राकाल माना जाता; और वास्तव में, बँगला में इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नहीं। पर हिन्दी में तो सोने की तोल है, उसमें आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए, घटा-बढ़ा नहीं सकते, उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; इसलिए बँगला छन्दों की प्रणालियों में डालने से उसके सङ्गीत की रक्षा नहीं हो सकती।

ब्रज-भाषा के अलंकृत काल में "सवैया" और "कवित्त" का ही बोलबाला रहा, दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदास जी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र-स्वरों को अपनी श्रृङ्गार की तन्त्री में चढ़ाने का साहस ही नहीं हुआ; उनकी लेखनी-द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दों में रचना करना

आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। छन्दों को अपनी अँगुलियों में नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ता है; सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हें साधना, उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित-मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार नचाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यंत्रों में उनकी पृथक्-पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व, भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा मींडें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झङ्कारित की जा सकती हैं। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं जिनमें उसकी छाप-सी लग जाती; जिनके ताने-बाने में वह अपने उद्‌गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ी बोली के कवियों में गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदों, सनेही जी को षट्पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिङ्गलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचन्द्रिका को जिन-जिन ड्योढ़ियों तथा सुरङ्गों से ले गये हैं, उनमें अधिकांश उनसे अपरिचित-सी जान पड़ती हैं; जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने बल-पूर्वक शब्दों की भीड़ को ठेल, छन्दों के कन्धे पिचका कर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाया है, नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकिल पर चढ़ने का अधिक शौक़ होता है, उनके छन्दों के पहिये, बैलन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक-स्वरता (monotony) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु-अक्षरों के बाद आने-वाले गुरु-

अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी में, छन्द की डोरी पर दानों के बीच दी हुई स्वरों की गाठें तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती हैं, और भावद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठों के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से, अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प-गुल्म लताओं के कोमल पुलिनों से चुम्बन-आलिंगन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रंग-बिरंगी रोड़ों से फेनिल-हास-परिहास करने, क्षिप्र-आवर्तों के रूप में भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता; वह अपने जीवन की विचित्रता (romance) स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त छन्द, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरसजात नहीं, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया; अक्षर-मात्रिक छन्द बँगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण-संगीत की वे रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित (colloquial) छन्द कह सकते हैं; सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छन्द में राजा-महाराजाओं की प्रशंसा करते हों, और इसमें रचना-सौकर्य पाकर, तत्कालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिन्दी का स्वाभाविक-संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु-अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल, तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है; दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है। पर कवित्त-छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है। उसमें, यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है; छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छन्द-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते

हुए, उच्चारित होते हैं; हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त-छन्द के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन कछारन में कुञ्जन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है"—इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छन्द में रख दीजिए—

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुञ्जन में (सब ठौर)
कलित-क्यारिन में (कल) किलकन्त
बनन में बगरयो (विपुल) बसन्त।"

अब दोनों को पढ़िए, और देखिए कि उन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दो छन्दों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है; कवित्त में परकीय, मात्रिक छन्द में स्वकीय, हिन्दी का अपना, उच्चारण मिलता है।

इस अनियन्त्रित छन्द में नायक-नायिकाओं, तथा अलंकारों का विज्ञापन मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का विकास तो रुक गया, उसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ी। कवित्त-छन्द में जब तक अलंकारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुल-वधू की तरह दो-एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नहीं हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र-भूषण ऐंठ लेने पर ही कहीं अपने साथ रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यञ्जन; जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर-सञ्चालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य-तार की सहायता देने भर के लिए झङ्कारित किये जाते, उसी प्रकार कविता में भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर

रहता है; ध्वनि-चित्रण को छोड़ कर (जिसमें राग व्यञ्जन-प्रधान रहता, यथा—"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा") अन्यत्र व्यञ्जन-संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्रायः गौण रूप से सहायता-मात्र करता है। जिस छन्द में स्वर-संगीत की रक्षा की जा सकती, उसके सङ्कोच-प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमें राग का स्वाभाविक-स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामञ्जस्य पूर्ण-रूप से मिलता है; जहाँ राग केवल व्यञ्जनों की डोरियों में झूलता, वहाँ अलकारों की झनक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनाई पड़ती है। कवित्त का राग व्यञ्जन-प्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नहीं मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

"इन्द्रधनुप-सा आशा का छोर

अनिल में अटका कभी अछोर" इस मात्रिक छन्द में 'सा आशा का' इन चार वर्णों में 'आ का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुप की तरह अनिल में अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण में 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम में सहायता देती है; उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतों का-सा

प्रकटा विकट महा-आकार" इन चरणों में स्वर के प्रसार-द्वारा ही भूतों का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यञ्जनों की आवृत्ति उसे भीपण बनाने में सहायता-मात्र देती है; पुनः—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत

दल बल युत घुस वातुल-चोर" इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणों में किसी एक को कवित्त-छन्द में बाँध कर पढ़ें, यथा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर

अनिल में अटका कभी अछोर"

इसे, "इन्द्रधनु-सा आशा का छोर अटका अछोर

अनिल में, (अनिल के अंञ्चल आकाश में)"

इस प्रकार रख कर पढ़ें, तो प्रत्येक अक्षर की कड़ी अलग-अलग हो जाने,

तथा स्वरों का प्रस्तार रुक जाने के कारण, राग के आकाश में कल्पना का अछोर इन्द्र-धनुष नहीं बनने पाता। उसी प्रकार—"अरी सलिल की लोल-हिलोर", इस पद में 'इ' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर को गिराती और उठाती', तथा "पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश" इस चरण में लघु-मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरों का सङ्कोच, गिलहरी की तरह दौड़ कर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त-छन्द की pressing machine में कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यों के पंख उस प्रकार स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वराकाश में नहीं उड़ सकते; क्योंकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल नहीं है।

कविता विश्व का अन्तरतम सङ्गीत है, उसके आनन्द का रोमहास है; उसमें हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म-प्रकाश है। जिस प्रकार कविता में भावों का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्द-बद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत्, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत् में राग; दोनों अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छन्दों में, भारती के प्राणों में शक्ति तथा स्फूर्ति सञ्चार करनेवाले उसके सङ्गीत को, अपनी उन्मुक्त झङ्कारों के पंखों में उड़ने के लिए, प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिञ्जर-बद्ध कीर की तरह, छन्द के अस्वाभाविक बन्धनों से कुण्ठित हो, उड़ने की चेष्टा में छटपटा कर गिर पड़ता हो, तो उस भाषा में छन्द-बद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतङ्ग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इङ्गितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-सङ्गीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के प्रगाढ़-सङ्गीत के साथ भाषा का सङ्गीत भी पूर्ण-परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोनों में संतुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही

करेंगे। पद्य में वाणी का रोंआँ-रोंआँ सङ्गीत में सन कर, रस में डूबे हुए किशमिस की तरह, फूल उठता है; सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय-स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झङ्कारों में काँपते रहते हैं; पावस की अँधियारी में जुगनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बातें होनी चाहिए। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेप-रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती, जहाँ से नवीन-बल तथा शुद्ध-रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति सञ्चार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में 'सम' का है, वही स्थान छन्द में तुक का, वहाँ पर राग शब्दों के सरल-तरल ऋजु-कुञ्चित 'परनों' में घूम-फिर कर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में राग वादी स्वर पर बार-बार ठहर कर अपना रूप-विशेप व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है। तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेप में गुँथी हुई भावना का आधार-स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेप पर निहित अथवा अवलम्बित रहते हैं, शेप शब्द उसकी पूर्त्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थ-शून्य, हृदय-हीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है; इसी शब्द सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव के हृदयङ्गम कराने में भी सहायता देता है।

हमें अपनी दिनचर्या में भी, प्रायः, एक प्रकार का तुक मिलता है, जो

उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्य-कारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लङ्घन कर बैठते हैं, तब हमारे कार्य हमें तृप्ति नहीं देते, हमारे हृदय में एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता; हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बैठते, और स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं,—जब हम अधिक कार्य-व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पन्दन-कम्पन रहता है कि हमें अपनी स्वाभाविक दिनचर्या में बरते जानेवाले शिष्टाचार-व्यवहार के लिए, जीवन के स्वतन्त्र क्षणों में प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल जाती, उसके लिए, अवकाश ही नहीं मिलता; हमारे कार्य-प्रवाह में तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त-दौड़-सा, कुछ समय के लिए, बन जाता है। यही Blank verse अथवा अतुकान्त कविता है। इसमें कर्म ( action ) का प्राधान्य रहता है; दिन की उज्वल-ज्योति में काम-काज का अधिक प्रकाश रहता है, उसमें हमें तुक नहीं मिलता; प्रभात और संध्या के अवकाशपूर्ण बाटों पर हमें इस तुक के दर्शन मिलते हैं; प्रत्येक पदार्थ में एक सोने की भावपूर्ण, शान्त, सङ्गीतमय छाप-सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ में मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल-शोभा इव पादपानां' तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढ़ता है।

भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती है, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने में भी सहायता देते हैं। रघुवंश में 'अज-विलाप' का वैतालीय छन्द करुणा-रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है! उसके स्वर में कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है! जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कण्ठ गद्गद् हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग-राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कहीं होता तो उसकी आँखों में अवश्य

आँसुओं का समुद्र उमड़ता हुआ मिलता। मालिनी-छन्द में भी करुण-आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दों में पीयूष-वर्षण, रूपमाला, और सखी, प्लवङ्गम छन्द करुणारस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते हैं। पीयूष-वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि में बहनेवाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पों के शृङ्गार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चञ्चल कलरव तथा हास-परिहास से वञ्चित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य-वेश में, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रान्त-जिह्म गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुणारस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनों छन्द चौबीस मात्रा के हैं; पर इन दोनों की गति में कितना अन्तर है? रोला जहाँ बरसाती-नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर जाता है।

राधिका-छन्द में ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ा-प्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चञ्चल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अङ्ग-भङ्गियों में उठती-झुकती, कोमल कण्ठ-स्वरों से गा रही हो। इस छन्द में जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल-छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल्-छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी-छन्द की गति में कितना अन्तर है? सखी-छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुप्रास अच्छा नहीं लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर-भङ्ग आ जाता है, जो करुणा का सञ्चार करने में सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई-छन्द अनमोल मोतियों का हार है, बाल-साहित्य के लिए इससे

उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं लगता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसें, बच्चों का कण्ठ-स्वर मिलता है; बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पंखों में खूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त-काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ़ रहा है; कोई इसे स्वर-काव्य कहते, कोई कङ्गारू। सन् १६२१ में जब 'उच्छ्वास' मेरी विरह कृश-लेखनी से वज्र के 'कनक-वलय' की तरह निकल पड़ा था, तब 'निगम' जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उस 'बीसवीं सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, "इसकी भाषा रँगीली, छन्द स्वच्छन्द है।" पर उस वामन ने, जो कि लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढ़नेवाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द-छन्द' ही की छटा दिखलाई पड़ती है।

यह 'स्वच्छन्द-छन्द' ध्वनि अथवा लय ( rhythm ) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप सङ्कुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँच कर उसके ढाँचे में फ़िट कर देना पड़ता है; कभी पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। उग्र-साम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य-समानता चाहते हैं। मुक्त-काव्य आन्तरिक-ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूँढ़ता है। उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं। क्वार्टरों (Quarters) में रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना की परतन्त्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार, अपनी खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने-रहने की सुविधा को, कुछ इने-गिने कमरों

ही में येन-केन प्रकारेण ठूँस-ठाँसकर जीवन निर्वाह नहीं करना पड़ता; वह अपनी स्वतन्त्र-इच्छा, स्वाभाविक-रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार अपना निकेतन बनाता है, जिसमें उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ-पाँव फैला कर सुख पूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इसमें चरण इसलिए घटाये-बढ़ाये जाते हैं कि काव्य-सम्बद्ध, संयमित रहे; उसकी शरीर-यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मांसल हो, न ब्रज-भाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पञ्जर। जहाँ छन्द के पद भावानुसार नहीं जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढ़ते, चीन की सुन्दरियों अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए लोहे के तङ्ग जूते कमर की पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक-सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छन्दों की तरह मुक्त-काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कण्ठ-स्वर मिला कर गाता, और स्वतन्त्रता पूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कंठ का तंबूरे के स्वरों के साथ सामञ्जस्य बना ही रहता, तथा ऐक्य-भङ्ग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छन्द का राग भी भाषा के तारों पर झूलता है, और जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती वहाँ छन्द अपना 'स्वर' खो बैठता है। उदाहरणार्थ मेरे मित्र हिन्दी के भावुक सहृदय कवि 'निराला' जी के छन्दों को लीजिए।

उनके कुछ छन्द बँगला की तरह अक्षर-मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित हैं कि उनमें कोई भी नियम नहीं मिलता। जहाँ पर उनकी कविता ह्रस्व-दीर्घ संगीत पर चलती, उनकी उज्वल भाव-राशि उनके रचना-चातुर्य के सूत्र में गुँथी हुई, हीरों के हार की तरह चमक उठती है। किन्तु जहाँ पर वह बँगला के अनुसार

चलती वहाँ उसका राग हिन्दी के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ बँगला की कुछ लाइनें लीजिए,—

हे सम्राट् कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्ष्येर पाने
जेथा तव विरहिणी प्रिया
रयेछे मिशिया
प्रभातेर अरुण आभासे,
क्लान्त-सन्ध्या दिगन्तेर करुण निश्वासे,
पूर्णिमाय देहहीन चामेलिर लावण्य-विलासे,
भाषार अतीत तीरे
काङ्गाल नयन जेथा द्वार ह'ते आशे फिरे फिरे,
—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इन्हें पहले बँगला-उच्चारण के साथ पढ़िए, फिर हिन्दी-उच्चारण के अनुसार पढ़ने की चेष्टा कीजिए, बँगला-उच्चारण का प्रवाह ज्योंही इनके ऊपर से हटा दिया जाता है सारी शब्द-राशि जल-धारा के सूख जाने पर नदी की तह में पड़े हुए निष्प्रभ रोड़ों की तरह, अपने जीवन का कलरव, अपनी कोमलता-चञ्चलता, अपनी चमक-दमक तथा गति गँवा कर अपनी ही लँगड़ाहट में डगमगाती हुई गिर पड़ती है। इसका कारण यह है कि बंगला के उच्चारण की मांसलता हिन्दी में नहीं, इसका ह्रस्व-दीर्घ राग बँगला-छन्दों में स्वाभाविक विकास नहीं पाता। बँगला-उच्चारण के श्वासवायु से उपर्युक्त पद्य के चरण स्वर के रंगीन गुब्बारों की तरह फूल उठते, जिनके निकलते ही छन्द के पद ढीले पड़ जाते, शब्द पिचक जाते, और उनका परस्पर का सम्बन्ध टूट जाने के

कारण राग की विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाता है। श्रीयुत 'निराला' जी के भी दो एक छन्द देखिए—

( १ )

देख यह कपोत कण्ठ—
बाहु-वल्ली कर सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का;
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।

—अनामिका।

( २ ) कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ?—'रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष—
सम्भव क्या है—
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देख दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई......। —अनामिका।

पहले छन्द के चरण अक्षर मात्रिक राग की गति पर, दूसरे के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक राग की गति पर चलते हैं। पहले छन्द में, 'यह, कण्ठ, वल्ली, सरोज, उन्नत, पीन' इत्यादि शब्दों पर एक प्रकार का स्वरपात देकर, रुक कर, आगे बढ़ना पड़ता, 'नितम्ब भार चरणसुकुमार' इस चरण को एक साथ पढ़ना पड़ता है; राग की गति भंग हो जाती है। दूसरे छन्द में राग की एक धारा व्याप्त मिलती है, उसका स्वर भंग नहीं होता; शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग, असम्बद्ध नहीं दिखलाई पड़तीं; उनकी दरारें लय से भर कर एकाकार हो जातीं,

उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य आ जाता है। पहले छन्द का राग हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं, दूसरे का अनुकूल है।

मुक्त-काव्य में ऐसे चरण, जिनकी गति भिन्न हो,—जैसे पीयूषवर्षण तथा रोला के चरण,—साथ-साथ अच्छे नहीं लगते; राग का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है; गति बदलने के पूर्व लय को विराम दे देना चाहिए। "पल्लव" में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास, 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।

'परिवर्तन' में जहाँ भावना का क्रिया-कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती, वहाँ रोला आया है; अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द। बीच-बीच में छन्द की एकस्वरता तोड़ने, तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गये हैं। यथा—

"विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल।" ऊपर के चरण में चार मात्राएँ घटा कर उसकी गति मन्द कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है। यदि ऊपर के चरण में चार मात्राएँ जोड़ कर उसे "विभव की चञ्चल विद्युत्-ज्वाल"— इस प्रकार पढ़ा जाय, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा का चमक कर छिप जाने के भाव का स्वाभाविक-स्फुरण मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावनानुसार छन्दों में काट-छाँट कर दी गई है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' में भी छन्द इसी प्रकार बदले गये, और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है। यथा—

शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय" के बाद

"बालिका ही थी वह भी," —इस चरण में वाणी को विश्राम मिल जाता, तब नया छन्द—

"सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन" इत्यादि प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार—
"सुमनदल चुन-चुन कर निशि-भोर

**खोजना है अजान वह छोर"**—इस सोलह मात्रा के छन्द की गति को "नवल कलिका थी वह" वाले चरण में विश्राम देकर तब—

**"उसके उस सरलपने से**

**मैंने था हृदय सजाया"**—यह चौदह मात्रा का छन्द रखा है; इसकी गति पूर्ववर्ती छन्द की गति से मन्द है। जहाँ समगति के भिन्न-भिन्न छन्द आये हैं वहाँ विराम देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसके बाद प्रकृति-वर्णन है; उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वत का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि, अद्भुत-रस का मिश्रण है। इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल-गतिवाले छन्द के बाद तुरन्त ही—

**"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश**

**पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश"**—यह क्षिप्रगामी छन्द मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इस छन्द का सारा वेग—"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर"—यह विस्तृत-चरण रोक देता,

और **"सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही**

**बालिका मेरी मनोरम मित्र थी"**—इस सुखदुःख मिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।

'आँसू' में कहीं-कहीं एक ही छन्द के चरणों में अधिक काट-छाँट हुई है। यथा—

**"देखता हूँ जब, उपवन**
**पियालों में फूलों के**
**प्रिये! भर भर अपना यौवन**
**पिलाता है मधुकर को!**
**नवोढ़ा बाल-लहर**
**अचानक उपकूलों के**
**प्रसूनों के ढिग रुक कर**
**सरकती है सत्वर,**
**अकेली-आकुलता-सी, प्राण!**

"कहीं तब करती मृदु-आघात,
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात ।"

इन चरणों में शोकाकुलता के कारण स्वर-भंग हो जाने का भाव आया है, लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास-पास नहीं आये हैं। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश-गात" इस चरण की गति को कुंठित कर देने से अनुवर्ती चरण में पगों के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है। अन्यत्र भी—

"पिघल पड़ते हैं प्राण

उबल चलती है दृग-जल-धार," इन लाइनों में प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उसमें प्राणों के पिघल पड़ने तथा द्वितीय चरण में आँसुओं के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है।—मुझे अपने इस बाल-प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, इसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही जानें।

खड़ी-बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर Expression शिथिल पड़ जाता है, और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। "है" को तो, जहाँ तक हो सके निकाल देना चाहिए, इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है। इस दो सींगोंवाले हरिण को "आश्रम-मृग" समझ, इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं, यह "कनक-मृग" है, इसे कविता की पञ्चवटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है। "समासों" का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढ़ कर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट-छाँट कर उन्हें सुन्दर आकार-प्रकार देने तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुए भावों के पुष्पों को व्यक्त भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी में अभी समस्या-पूर्ति का स्वाँग जारी ही है। जो लोग "कवयः किं न जल्पन्ति, कागाः किं न

भक्षन्ति" के समर्थक, और कवियों को कौओं के समकक्ष बैठाने तथा कविता को केवल काले-काले अक्षरों की अँधेरी उड़ान समझनेवाले हैं, उनकी बात दूसरी है, पर जो कवि को राष्ट्र का निर्माता मानते, जिन्हें कविता में देवताओं का भोजन, संसार का अन्तरतम हृत्स्पन्दन मिलता है, उन्हें तो उसे इस अस्वाभाविक-बन्धन से छुड़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। ब्रज-भाषा की कविता में अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य कारण यह समस्या-पूर्त्ति भी है। क्या कवि की विश्व-व्यापी प्रतिभा को तागे की तरह सूई की आँख में डाल देना ही कविता है? सरकस के खिलाड़ियों की तरह दूर से दौड़ लगा कर शब्दों के एक कृत्रिम परिमित वृत्त ( ring ) के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है? क्या बहुपतियों को वरने की असभ्य प्रथा, कलङ्क की तरह, हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहेगी? इस लक्ष्य-वेध का, इस तुकबन्दी की चाँदमारी का अब भी अन्त नहीं होगा?

हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। रसगङ्गाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये; वे स्थायी, सञ्चारी, व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ सञ्चार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व-भारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती। बड़े हर्ष की बात है कि अब हिन्दी यूनिवर्सिटी की चिर-वञ्चित उच्चतम-कक्षाओं में भी प्रवेश पा गई; वहाँ उसे अपनी बहन अँगरेज़ी के साथ वार्तालाप तथा हेल-मेल बढ़ाने का अवसर तो मिलेगा ही, उनमें घनिष्ठता भी स्थापित हो जायगी। आशा है, विश्व-विद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी में कौन बड़ा है, इसके निर्णय के साथ उनके भाग्यों का निबटारा करने, तथा 'सहित' शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़ कर सत्साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी में अँगरेज़ी ढङ्ग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्', 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये हैं।

यहीं पर मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरल नहीं हुए, वे केवल नाम मात्र हैं; उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला, वे अभी हमारे मनोवेगों के चिरालिङ्गन-पाश में नहीं बँधे;—इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमें रोमाञ्चित नहीं करता, वे हमें रस-हीन, गन्ध-हीन लगते हैं। जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है। इसके लिए समय की आवश्यकता है, उसी के प्रवाह में बह कर खड़ी बोली के खुरदुरे रोड़े हमें धीरे-धीरे चिकने तथा चमकीले लगने लगेंगे। हमें आशा है, भविष्य इसके समुद्र को मथकर इसके चौदह रत्नों को किसी दिन संसार के सामने रख देगा; और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पृथु अपनी प्रतिभा के बछड़े से इस भारत की भारती को दुह कर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उर्वर बना कर, एक बार फिर दुर्भिक्ष-पीड़ित संसार को परितृप्ति प्रदान करेगा। शुभमस्तु।

(मार्च १९२६)

[ पल्लव से—

# विज्ञप्ति

"वीणा" नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी-संसार के उद्भट-समालोचकों की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सम्मुख रखने में मुझे जो संकोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है उसका कारण यह कि मेरे इन असमर्थ-प्रयत्नों तथा असफल-चेष्टाओं द्वारा किए गए अत्याचार-उत्पात को स्नेह-पूर्वक सहन कर वे मुझे ही अपने कृतज्ञता के पाश में न बाँध लेंगे, स्वयं भी मेरे अत्यंत-निकट खिंच आयेंगे। संत-हंसों की तो वैसे भी चिन्ता नहीं रहती; हाँ वारि-विकार के प्रेमियों के कठोर-आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका में अत्यन्त-विनीत तथा शिष्ट शब्दों की चाटुकारी का रोचक-जाल फैला कर उनकी रण-कुशल कठफोरे की-सी ठोंठ को बाँध दूँ, किन्तु निज कवित्त केहि लाग न नीका' वाली किंवदन्ती के याद आते ही मेरे अभिमानी-कवि ने निर्भयता का कवच पहन कर, मुझे, उनकी लम्बी-सी चोंच के लिए 'शोरबा' तैयार करने से हठात् रोक दिया। अस्तु—

इस संग्रह में दो-एक को छोड़ अधिकांश सब रचनाएँ सन् १९१८-१९ की लिखी हुई हैं। उस कवि-जीवन के नव-प्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय-सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा 'मन्द: कवियश: प्रार्थी, निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणा-वादिनी के चरणों के पास बैठ कर, स्वर साधना करते समय, अपनी आकुल-उत्सुक हृत्तन्त्री से, बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त-असमर्थ अँगुलियों के उल्टे-सीधे आघातों द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट-अस्पष्ट-झंकारें जाग्रत कर सका है वे इस 'वीणा' के रूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, क्योंकि तब इसका सारा ठाट ही बदल देना पड़ता। कई शब्द, वाग्बन्ध आदि-जैसे मम, स्वीकारो, निर्माऊँ, वयवाली, 'पहना है शुचि मुक्तामाल (पृष्ठ ३१)' इत्यादि—जिनका प्रयोग मुझे

अब कविता में अच्छा नहीं लगता—इसमें ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत् साधते समय अपने नौसिखुवे शिष्य की अधीर पथ-भ्रष्ट अंगुलियों की बेसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नहीं होती उसी प्रकार इस वीणा के गीतों की स्वर-लिपि में इधर-उधर भूल से लग गए कर्कश विवादी-स्वर भी सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के लिये केवल मनोरंजन तथा विनोद ही की सामग्री होंगे।

'ममजीवन' की प्रमुदित प्रात' वाला गीत (पृष्ठ ८) गीतांजलि के 'अन्तर मम विकसित कर' वाले गाने से मिलता-जुलता है। बनारस में मेरे एक मित्र 'गीतांजलि' के उस गीत को अक्सर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैंने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी। कई कारणों से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह हिन्दी-प्रेमियों को "पल्लव" से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योंकि यह उतना अच्छा नहीं।

"सरस्वती" की मई मास (१९२७) की संख्या में प्रकाशित 'आज-कल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक लेख द्वारा, अभी हाल ही में 'सुकवि-किंकर' के नाम से किसी वृद्ध-उद्भट-साहित्याचार्य ने, केवल 'हित-चिन्तना की दृष्टि से' हिन्दी के नवीन छायावादी (?) कवियों को जिस बुरी तरह, घोर गर्जन-तर्जन के साथ फटकारा है, तथा समय-समय पर, दो-एक और भी पुराने प्रचण्ड-धूम-केतु, अपनी अस्तोन्मुख-प्रतिभा की क्षीण-मलीन ओर-छोर-व्यापी धूमिल-पूँछ की अव्यर्थ—फटकार से, हमारे टिमटिमाते हुए मरकत-दीपों के खद्योताकाश में जिस प्रकार भयंकर उत्पात-उपद्रव मचा रहे हैं, उसे देख कर भी मैंने जो यह 'ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों का, रंग-बिरंगी बेल-बूटों से अलंकृत' नवीन-संग्रह इतनी जल्दी छपवाने का दुःसाहस किया, उसका कारण है।

हीन, शब्द-अर्थ-तुक-शल्य, काली-काली सतरों की चींटियों की टोलियाँ, तथा, अस्पृश्य-काव्य के गुह्यातिगुह्य-कच्चे-घरोंदे बना, तालपत्र, भोजपत्र को छोड़, बहुमूल्य काग़ज पर, मनोहर टाइप में, अनोखे-अनोखे चित्रों की सजधज तथा उत्सव के साथ छपवा कर, जो विन्ध्यस्तरेत् सागरम् की चेष्टा कर रहे हैं, यह सरासर इनकी हिमाकत, धृष्टता, अहम्मन्यता तथा हम चुना दीगरे नेस्ती के सिवा और क्या हो सकता है ? घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ? मेरा तो क़िस्सा ही दूसरा है। एक तो मैं अभी तक उर्दू-शायरों के असाध्य-रोग से ग्रस्त नहीं-यद्यपि 'सुकवि किंकर' जी के लेख को पढ़ कर अब अभी-कभी मुझे 'कण्ठीरव' उपनाम रख लेने की बड़ी इच्छा होती है,—उस सारे लेख में मुझे बस यही शब्द पसन्द भी आया—दूसरे, मैं अपने अन्य मिस्टिक—मित्रों की तरह तटस्थ नहीं हूँ। फिर चाणक्य की प्रकृति के लोग 'साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः' कह कर डर भी दिखाते हैं ! सुकवि किंकर जी स्वय न्याय करें कि बिना 'कण्ठा भरण' तथा लघु-कौमुदी' पढ़े, बिना कुछ अध्ययन, मनन, अनुभव अध्यवसाय के, सहज ही में, अपने आप हो जाने वाली, इस छायावाद की कविता को लिखना छोड़ कर, एक दम 'पुच्छविषाणहीन पशु' बन जाना क़हाँ तक बुद्धिमानी है ? क्या यह 'पुच्छविषाण-हीन पशु' 'पंचतंत्र' के लेखक की उस प्राचीन जीर्ण-शीर्ण लेखनी द्वारा शोभा देने वाली 'सुकवि किंकर' जी की 'कविचक्र चूड़ामणि चन्द्र चूड़ चतुर्वेदी।' इस अलंकारोक्ति से किसी क़दर कम भयंकर है ? यह सब सोच-समझ कर, जान पड़ता है, मुझे तो स्वान्तःसुखाय कुछ न कुछ लिखना ही पड़ेगा, नहीं तो हिन्दी में 'उच्चकोटि की सुन्दर, सरस कविता लिखेगा कौन ?'

(अगस्त १९२७) [ वीणा की अप्रकाशित भूमिका—

# पर्यालोचन

मैं अपने यत्किंचित् साहित्यिक प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था, किंतु हिंदी साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत संग्रह में अपने बारे में स्वयं लिखूँ। संभव है, मैं अपने काव्य की आत्मा को, स्पष्ट और सम्यक् रूप से, पाठकों के सामने न रख सकूँ; पर, जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। पल्लव की भूमिका में; काव्य के बहिरंग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मैं, अपने विकास की सीमाओं के भीतर से, काव्य के अंतरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस संक्षिप्त पर्यालोचन में जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ उनके लिए सहृदय गुणज्ञ पाठक क्षमा करें।

इस सौ सवा सौ पृष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नहीं आ सकी हैं। पर जिन पथों का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोड़ा बहुत आभास इससे मिल सकता है; और, संभव है, अपने युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप-रेखाएँ भी इसमें मिल जायँ। अस्तु—

की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाई हुई हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए, भुला सकती हैं ! और यह शायद पर्वत प्रांत के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चल रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।

मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?—

आदि वीणा के चित्रण, प्रकृति के प्रति, मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यञ्जना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिला कर उन्हें ऐन्द्रयिक चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है। यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्ववेणु', 'एकतारा', 'नौकाविहार', 'पलाश', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम' आदि अनेक रचनाओं में मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली, नारी के रूप में देखा है।

'उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय बाली में'—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नोटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है। मानव स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है, यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो 'Nature red in tooth and claw' वाला कठोर रूप, जो जीव विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। किंतु 'वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भूपर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे, और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रसाद' निर्माण कर सकेगा जिसमें, 'मनुष्य जीवन की क्षण धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी,—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है—

'मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर !
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?'

'वीणा' और 'पल्लव', विशेषतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था, और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचार धारा का काफ़ी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

पर्यालोचन

'एक सौ वर्ष नगर उपवन,—एक सौ वर्ष विजन वन !,
यही तो है असार संसार,—सृजन सिंचन, संहार !'—

आदि भावनाएँ मनुष्य को, अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद, किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करतीं, बल्कि उसे जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता (निगेटिविज्म) के मूल हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे घुसे हुए हैं, जिसके कारण, जातिय दृष्टि से, हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के संस्कारों (सेल्फ़ प्रिज़र्वेटिव इंस्टिंक्ट्स) को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किए गए अत्याचारों को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप, सहन करना सीख गए हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की संगठित शक्ति से हट कर आकाश कुसुमवत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी दर सीढ़ी नीचे गिरते गए हैं।

'पल्लव' और 'गुंजन' काल के बीच में मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है। इसीलिए वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्त्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीवन जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर !

'खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण !'
'वही मधुऋतु की गुँजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार !'

मेरी जीव दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्बुदों के व्याकुल संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशाऽकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिये, लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में, ऊबड्डुब करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम रूप गुण के छिलके उतार कर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनंद से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

**'जरा के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,**
**बरसो लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन !'—**

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और गुंजन को 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं 'पल्लव' से 'गुँजन' में अपने को सुंदरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। 'गुँजन' में तेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है; साथ ही 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावात्मक हो गई है। 'गुंजन' के भाषा संगीत में एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है पल्लव के स्वरों में बहुलता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, 'गुंजन' की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित। 'ज्योत्स्ना' का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है, उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेन्डेन्टलिज्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुंदरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं

मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। 'गुंजन' में 'तप रे मधुर मधुर मन', 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग हैं, फल में जीवनोपयोगी रस; और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाली सत्य में अवश्य होने चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है, और मेरी रचनाओं में उसका सम्बन्ध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनों रूप हैं,—शराबी शराब पीता है यह सत्य है; उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुवल) रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखने वाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा संस्कार है, आत्मविकास (सब्लिमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अंतर्मुखी स्वभाव (इंट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है। मेरे 'पल्लव' काल की रचनाओं में, तुलनात्मक दृष्टि से, मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है, और बाद की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता तो मेरी आगे की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुजगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है।

'आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल,

.......................................................

'खो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्गार गुंजन में आए हैं। ऐसी अवस्था में मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता, और मैं संदेहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैंने इस बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारणों को बुद्धि से सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रह कर बौद्धिक बनती गईं,—या मेरी भावना का मुख प्रकाशवान् हो गया? 'ज्योत्स्ना' में मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐन्द्रयिक चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती। 'परिवर्तन' में भी मैंने यही बात कही है—

'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार।'

'गुंजन' से पहले—जब कि मैं परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अंतर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था,—मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता 'ग्रंथि' और 'परिवर्तन' में प्रकट हुई। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, तब मैं प्राकृतिक दर्शन (नैच्युरेलिस्टिक फ़िलासफ़ी) से अधिक प्रभावित था और मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

'मानवजीवन प्रकृति संचलन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर जन ने की विश्व सभ्यता स्थापित'—

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।

अचिर विश्व में अखिल,—दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन, अहे विवर्तन हीन विवर्तन !'—

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमें प्रकृति के नियमों की परिपूर्णता एवं सर्वशक्तिमत्ता के सम्मुख मस्तक नवाने ही में शांति मिल सकती है।

गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी सौन्दर्यकल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

'प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास'

या

'कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख'

अथवा

'प्रकृतिधाम यह : तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन्मृत !'—

आदि बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत की ओर अधिक प्रकट होता है। ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने 'युगांत' में लिखा है,—

'वह एक असीम अखण्ड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता !'

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं, खंड-खंड रूप में, संसार को, जग जीवन के समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्यसाधना का दूसरा युग आरम्भ होता है। जीवन के प्रति एक अंतर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के

क्षणों में प्रकाश स्तंभ का काम देने लगा। जैसा कि मैंने 'युगांत' में भी लिखा है,—

'........जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर;
पार करो विश्वास चरण धर!'

अब मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से, संश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

'पल्लव' से 'गुंजन' तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य की पुष्टि करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा के अधिक गर्भित (एब्स्ट्रैक्ट) हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।

'नयन नीलिमा के लघु नभ में किस नव सुषमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा है रूप अपार ?'

की अलंकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग उपकरण' 'नव संस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचारचित्र उपस्थित करती हैं। 'पुण्यप्रसू', 'घननाद', 'रूपसत्य', 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नहीं है। यदि यह मेरा सृजन आवेश मात्र नहीं है तो 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मेरी कल्पना ऊर्णनाभ की तरह, 'सूक्ष्म अमर अंतरजीवन का' मधुर वितान तान कर, देश और काल के छोरों को मिलाने में संलग्न रही है। इस ह्रास और विश्लेषण युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज ही में व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है; अतएव उससे अधिक कला नैपुण्य की आशा रखनी भी नहीं चाहिए।

युगवाणी का रूप-सृजन समाज के भावी रूप का सृजन है। अभी जो वास्तव में अरूप है उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। युगवाणी में कहा भी है—

'बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम'
'सुन्दर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल जगजीवन से हो एक प्राण।'

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित भविष्य के मानव संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। 'युगवाणी' में यह बात कई तरह व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सद्यः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण, न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसीसे उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावतत्त्व काव्यगौरव रखता है।

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी; चाहिए तुम्हें क्या अलङ्कार'

से भी मेरा यही अभिप्राय है कि संक्रांतियुग की वाणी के विचार ही उनके अलंकार हैं। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गई है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते हैं, उड़ने वाले प्राणियों की तरह, स्वयं हृदय में घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार, और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जाएँगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध; और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था, और उसका भाव-शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किंतु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-अश्रु आशाऽकांक्षा 'खाद्यमधुपानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान ( सब्जेक्टिव ) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया। दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता, छायावाद के रूप में ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की अकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी, और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुख में, आशा-निराशा, और संयोग-वियोग के द्वन्दों में सामञ्जस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अंग्रेजी कविता भी अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता दुरूहता, संघर्ष, अवसाद, निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवीं सदी के कवियों के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कट कर अलग हो गई है। किंतु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असंतोष के संबंध में न रह कर वर्ग एवं सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से संबंध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध इंगलैंड में मध्यवर्गीय संस्कृति का

चरमोन्नत युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमें विश्लेषण के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और उत्तरयुद्धकालीन अँग्रेजी कविता, दोनों, भिन्न-भिन्न रूप से, इस सक्रांतियुग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ हैं।

'पल्लव' काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अँग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन युग की, सौन्दर्य-कल्पना ही में परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का नारा भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक unconsious-conscious process है तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अङ्ग बताने की चेष्टा की है।

ऊपर मैं एक अखंड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामंत युग की सांस्कृतिक भावना थी, जिसे मैंने खोया था, और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नहीं बल्कि बाहर के जगत में थे। इस बात को 'ग्राम्या' में मैं निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

'गत संस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव !'
'वृद्ध विश्व सामन्तकाल का था केवल जड़ खँडहर !'

'युगांत' के 'बापू' ( 'बापू के प्रति' ) सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्मा जी के प्रति' में) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गए हैं, जो वर्तमान युग की पराजय है।

'हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !'

भावी सांस्कृतिक क्रांति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण काल में पैदा हुए, किन्तु युग प्रगति से बाध्य होकर, हमें संक्रान्ति युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन

में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ, स्वामी दयानन्द जी सुधारवादी थे जिन्होंने मध्ययुग की संकीर्ण रूढ़ि-रीतियों के बंधनों से इस जाति और संप्रदायों में विभक्त हिन्दू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है।

'युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर'

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी हैं, "मैं समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता में व्याप्त एकता की सत्य का संदेश देना है।" डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव शास्त्र (एंथ्रोपोलॉजी), विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न-भिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक सारभाग से मानव जाति के लिए विश्व संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश काल जनित धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्य में परस्पर का संपर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव जाति के आंतरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा जी भी, इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच, संसार में, सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एक देशीय, एक जातीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी, इस युग में, तभी सफल हो सकते हैं जब उनको परिचालित करने वाले सिद्धान्तों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों।

'विश्व सभ्यता का होना था नखसिख नव रूपांतर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !'

आनेवाला युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन लाना चाहता है। वह सामंत युग से सगुण (सांस्कृतिक मन) से मानव चेतना को मुक्त कर, मनुष्य के मौलिक संस्कारों का यंत्रयुग का विकसित परिस्थितियों और सुविधाओं के अनुरूप नवीन रूप से मूल्यांकन करना चाहता है। वह मानव संस्कृति को एक सामूहिक विकास प्रवाह मानता है। 'प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन' से इसी प्रकार के युग परिवर्तन की सूचना मिलता है। दूसरे शब्दों मे, आने वाले युग मनुष्य समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान भी मानव जाति की नवीन जीवन कल्पना को पृथ्वी पर अवतरित करने के प्रयत्न में संलग्न हैं। जिस संक्रांति काल से मानव सभ्यता गुजर रही है उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास अमोघ शक्ति और साधन है। इस विश्वव्यापी युद्ध के रूप में, जैसे, विज्ञान, भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों और स्वार्थों में विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम मानव करता अब भी जन में निवास') का संहार कर रहा है। वह भविष्य में नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा। ग्राम्या में १६४० सन् को संबोधन करते हुए मैंने लिखा है--

'आओ हे दुर्धर्ष वर्ष, लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन!'

सभ्यता के इतिहास में और भी कई युग बदले हैं और उन्हीं के अनुरूप मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपने अंतर और बहिर्जगत के संबंध में परिवर्तित हुई है।

'पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति,
थी रुद्रचरों से कुंठित कृषि युग की उन्नति।
श्रीराम रुद्र की शिव में कर जन हित परिणत
जीवित कर गए अहल्या को, थे सीता-पति।'

श्री राम, इस दृष्टि से, अपने देश में कृषि-क्रांति के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, जिन्होंने कृषि-जीवन की मान-मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एवं सुव्यवस्थित

कृषि-जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि संस्कृति ही की देन है। कृष्ण का युग कृषि-जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी,—उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि चकित कर देने वाले रूप-रंग—उस युग की विशद भावना, बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़ कर, जैसे, उस युग की चरमोन्नति का प्रतीक स्वरूप, श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गई है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामंत युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृषि संपन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश, शायद, उसे दे भी नहीं सकता था।

मर्यादापुरुषोत्तम के स्वरूप में कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीति-नीति संबंधी सात्त्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य पट में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्नजड़ित राजसी वेलबूटों से अलंकृत कर दिया। कृष्ण युग की नारी भी हमारी विभव युग की नारी है। वह 'मनसा वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं,—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वंशीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामंत युग की नैतिकता के तंग आहाते के भीतर, श्रीकृष्ण ने, विभव युग के नर-नारियों के सदाचार में भी, क्रांति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ, अभ्युदय के युग में, फिर से गोप-संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती हैं।

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमें मध्ययुग में देखने को मिलता है वह श्री तुलसी के रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मन युग अनुरूप क्रिया निर्मित।' देश की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों के ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणशक्ति मन्द पड़ गई, और भारतीय संस्कृति का गतिशील जीवन-द्रव जातियों, संप्रदायों,

संघों, मतों, रूढ़ि रीति नीतियों और परंपरागत विश्वासों के रूप में जम कर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण, जनसाधारण में देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद वैराग्य भावना आदि, ह्रासयुग के अभावात्मक विचारों और आदर्शों का प्रचार बढ़ने लगा। जिस प्रकार कृषि युग ने पशुजीवी युग के मनुष्य की अंतर्बाह्य चेतना में प्रकारांतर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यंत्र का आगमन सामंत युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामंत युग में भी, समय-समय पर, छोटी-बड़ी विश्लिष्ट युग की गण संस्कृतियों का समन्वय हुआ है, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक क्रांतियाँ हुई हैं, किन्तु, उन सब के नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्तयुग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक सिद्धांतों और मानों को यंत्र युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यन्त्र युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो उन्नीसवीं सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद दर्शन और विज्ञान का, मानव सभ्यता के अंतर्बाह्य विकास का, ऐतिहासिक समन्वय है।

'दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।'

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य नवीन तन्त्र (स्टेट) का भी विधायक है।

विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन।'

इतिहास विज्ञान के अनुसार जैसे-जैसे जीवनोपाय के साधन स्वरूप हथियारों और यंत्रों का विकास हुआ है मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान में

भी युगांतर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यन्त्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान विज्ञान, कला यन्त्रों का अद्भुत कौशल' दिया है उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गई है। आज, जब कि संसार में इतिहास का सब से बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फ़ासिज्म है—शायद, अंत भी हो जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। मनुष्य स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानव जाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही हैं, दूसरी ओर मनुष्य की विकास प्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए, सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यन्त स्वल्प हो और अंधकार की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किन्तु एक कलाकार और स्वप्न स्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,<br>
.....................................<br>
'आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,<br>
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित।'

यंत्रों का पक्ष भी मैंने इसीलिए ग्रहण किया है कि वे मानव समूह की सांस्कृतिक चेतना के विकास में सहायक हुए हैं।

'जड़ नहीं यंत्र, वे भाव रूप संस्कृति द्योतक।

...............................................

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत् क्रम में विकसित।

...............................................

दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड़ मानव कृत,
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित !'

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु- परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें तो हमारी आंतरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जायँगी।

'कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अंतर दर्पण।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अंतर परिवर्तन।'

जब हम कहते हैं कि आने वाला युग आमूल परिवर्तन चाहता है तो वह अंतर्बहिर्मुखी दोनों प्रकार का होगा। सामंत युग की परिस्थितियों की सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई सामंत काल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है। यन्त्र युग की सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक (पॉज़िटिव) धारणा नहीं बनाई जा सकती। मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबन्ध में वस्तु-जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती है। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता

है, अथवा उनके उपयोग के लिये जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से सम्बद्ध है।

हम आने वाले युग के लिये 'स्थूल' को (यंत्र युग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिये 'सूक्ष्म' (भावी सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सांस्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठभूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्त्वों से बनी है, और हम, जिस स्थूल को कल का 'शिव सुन्दर सत्य' मानते हैं वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकासवाद का।

'स्थूल युग का शिव सुन्दर सत्य' स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण !' सामंत युग में जिस प्रकार सामाजिक रहन-सहन और शिष्टाचार का सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुआ है उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की दिशा में विकसित व्यक्ति से जनसाधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा को होनी चाहिए न कि सामंत युग के लिये उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को। 'तब वर्ग व्यक्ति गुण, जन-समूह गुण अब विकसित,'— सामंत युग का नैतिक दृष्टिकोण, उस युग की परिस्थितियों के कारण, तथोक्त उच्च वर्ग के गुण (क्वालिटी) से प्रभावित था।

आने वाला युग सामंत युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर सकेगा। और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कारों सम्बन्धी सामंतकालीन नैतिक मान), विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से, बहुत कुछ अंशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

'नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित।
..............................
देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित, विकसित।'

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक संस्कारों के लिये अधिक विकसित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'
'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण असुन्दर को सुन्दर'—

आदि विचार मनुष्य के दैहिक संस्कारों के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टि-कोण के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरा-मरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे वर्तमान युग की संरक्षण-हीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन यंत्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ा कर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामंतवादी सांस्कृतिक मानों की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नहीं रह गई है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एवं परिवर्तित हो गई हैं। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी ( जन आवश्यकताओं का प्रतीक ) की चिन्ता से मुक्त कर सका तो उसके लिए केवल सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जायगा। प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देश काल से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष ( संपूर्ण ) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग नरक सम्बन्धी) दुख और भय के संस्कारों से लाभ उठा कर, उसकी चेतना में धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किए हैं जो कि सामंत युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित भी था। इस प्रकार प्रत्येक युग पुरुष, राम कृष्ण बुद्ध आदि, जो कि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं, जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गए हैं। सामंत कालीन उदात्त नायक के रूप में हमारे साहित्य के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस

युग के सगुण से सम्बन्ध रखने वाली सापेक्ष धारणाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा-काम आदि निरपेक्षतः कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसी का प्रभाव मनुष्य के सत्य शिव सुन्दर की भावनाओं पर भी पड़ता है। मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप, जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो जाएँगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जाएगा, व्यक्ति के क्षुद्र देह ज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जाएगी; उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा, और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जाएगा।

सामंत युग के स्त्री पुरुष संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है! उस सदाचार के एक अचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाए हुए हैं और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की संपत्ति समझी जाती रही है। स्त्री स्वातंत्र्य सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार सम्बन्धी आंदोलन बूर्ज्वा संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलंबित।

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।'

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामंत युग की क्षुद्र नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यंत्र युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामञ्जस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित कर सकेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय आध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज में, सापेक्ष के उस पार, अवाङ्मनस गोचर' की ओर चले गये हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल तक डुबकी लगा कर, उसके आलोक में, जन-समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राज-नीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहीं हो सका है।

फ्रॉयड जैसे अंतरतम के मनोवैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण में सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं। वहाँ अवचेतन (अनकांसस) पर, विवेक का नियंत्रण न होने के कारण, वे भ्रांति पैदा होने का भय बतलाते हैं। भारतीय तत्त्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलता-पूर्वक पहुँच कर 'तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।

मैं, अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शन सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामंत कालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत

परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग युद्ध और रक्त-क्रांति में परिणत हुई है,—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

अध्यात्म दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष जगत ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत का—जिसका सम्बन्ध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार-विचार, रीति-नीति और सामाजिक सम्बन्धों से है—विकास किस प्रकार हुआ इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का बोध सापेक्ष है, परम सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—यह अध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है, सामंत कालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव-समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि,—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो वस्तु दर्शन (ऑब्जेक्टिव फिलॉसफी) के सिद्धान्तों पर इतना ज़ोर दे रहा हूँ इसका यही कारण है कि परिवर्तन युग में भाव दर्शन (सब्जेक्टिव फिलॉसफी) की—जो कि अभ्युदय और जागरण युग की चीज़ है—उपयोगिता प्रायः नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अन्धकार में पले, इस मध्यकालीन संस्कृति के तथा कथित ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और शाखा सहित, उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संग्राम करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। वह मध्य-

कालीन आकाशलता शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मत-मतांतरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुँजीभूत और विच्छिन्न होकर, एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़ कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धांतों को ग्रहण किए बिना, हम में वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तरदायित्व, परोक्ष और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती, जिसको कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माण काल में संस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं, वह अधोमूल वास्तविकता, समय के साथ-साथ, विकास एवं उत्कर्ष काल में, ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगों की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को, नवीन जन्म के प्रयास में, फिर से अधोमूल होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप (इंटरप्रेटेशंस) देते आए हैं, अब उस सामंत युग की, नवीन वस्तु-स्थितियों के अनुरूप, रूपांतरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक मात्राओं में घट-बढ़ रही थी, अब वह प्रकार में बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है, समाज का इतिहास की दिशा को,—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

'अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।'

भौतिक दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन अद्वैतवाद के सत्य को देश-काल के भीतर ( संस्कृति के रूप में ) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामंत युग की परिस्थितियों के बाहर था। उसके लिए

एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की ज़रूरत थी, दूसरी ओर मनुष्य की सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अन्तर जगत में स्थापित किए हुए था, अब उसे, एक सर्वाङ्गपूर्ण तंत्र के रूप में, वह वहिर्जगत में स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आने वाला युग सामंत युग के स्वर्ग की अंतर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य का सृजन शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जाएगा।

**'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,**
**अन्तर जग ही वहिर्जगत बन जावे, वीणा पाणि, इ !'**

भौतिक जगत की प्रारंभिक कठोर परिस्थितियों से कुंठित 'आदिम मानव' की हिंस्र आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूब कर आलोकित हो जाएगी यंत्रयुग के साथ-साथ मानव सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक सत्य में परिणत कर सकेगी।

**'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,**
**सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—**

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद ही दो मत हो सकते हैं।

यदि स्वर्ण युग की आशा आज की अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन प्रवृत्ति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में, मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और सन्दिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता तो, यह कहीं अच्छा है कि, इस 'दैन्य जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित', जाति वर्ग में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का अन्त हो जाय। किंतु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग-युग के दार्शनिक और कवि गाते आए हैं, जिसके

ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।'

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किंतु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचार-धारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

'आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव मुख हरता मन!'

या

'वृथा धर्म गण तन्त्र,—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन'

अथवा

'इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज'

आदि पंक्तियाँ हार्दिकता से शून्य नहीं हैं। यदि मुझे सामंत युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता,—'इस तालाब में ( जन मन में ) काई लग गई है, इसे हटाना भर है, इसके अन्दर का जल अभी निर्मल है।'—जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता। पर मैंने लिखा है,—'इस तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति) भरना पड़ेगा।'—जो सांस्कृतिक क्रांति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ भव का मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित गर्हित जन का जीवन' भी कहा है। जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के',

'वह बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें, वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हार्दिकता दे सका है, पर हम दोनों के साहित्यिक उपकरणों में बड़ा भारी अन्तर है। उसकी सर्वहारा (मशीन के संपर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग संस्कार हैं जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जन समूह (मॉब) की बीमारी उससे कहीं गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि-रीतियां एवं अंधविश्वासों के रूप में पथराए हुए (फ़ॉसिलाइज्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। लारेंस के पात्र अपनी परिस्थितियों के लिए सचेतन और सक्रिय हैं। ग्राम्या के दरिद्रनारायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह जड़ और अचेतन।

'वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यों के संबंध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान (बाएलॉजिकल थॉट) से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारधारा से; जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं पराधीन देश का कवि हूँ। लारेंस जहाँ द्वन्द्व पीड़न (सेक्स रिप्रसन) से मुक्ति चाहता है, मैं राजनीतिक आर्थिक शोषण से। फिर भी, मुझे विश्वास है कि, 'ग्राम्या' को पढ़ कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्र-नारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन? मृत्यु नीलिका गहन गगन?
निःस्पंद शून्य, निर्जन, निःस्वन?

**देखो भू को, स्वर्गिक भू को !**
**मानव पुण्य प्रसू को !'—**

इसी लक्ष्य परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिड़िया उड़े अकास, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है; और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कलाकौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन के रूप में, एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में खंड-खंड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

**'किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,**
**भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'**

के अनुसार मध्म युग के अंतर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धांतों की जन-समूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया। और

**'वस्तु विभव पर ही जन गण का भाव विभव अवलंबित'**

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय से सामंत युग की त्तुद्र चेतना का बोध डूब जाय ! साथ ही अभाव पीड़ित जन-समूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओं का सात्विक विकास (सब्लिमेशन) किया जा सकता है। इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे संदेह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्तवासना का लांछन मध्यवर्गीय (बूर्ज्वा) मनोविज्ञान (डिप्थ साइकॉलॉजी) के दृष्टिकोण से नहीं लगाया जा सकता। भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरां के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंत युग की नैतिकता से पीड़ित हैं। हमारी क्षुधा (संपत्ति) काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है, और यंत्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे सका है जिन पर अवलंबित सामाजिक संबंधों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव जाति का

नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सगुण आज लय होने को : औं' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।'

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने में सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास विज्ञान ही के अर्थ में कर रहा हूँ जो दृश्य और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमो का निरूपण करता है,—'मानव गुण भव रूपनाम होते परिवर्तित युगपत्।' मैं यह भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास में बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अंतर्चेतना (साइकी), तदनुकूल, पहले ही विकसित हो जाती है। यथा—

'जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।'

किंतु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकांसस) के आश्रित विगत सांस्कृतिक गुणों की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं जिसका परिणाम बाह्य संघर्ष होता है, साथ ही वह नव विकसित अवचेतन (अनकांसस) की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सका है उनका मैंने ऊपर, संक्षेप में, निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि, 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना ही को वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों ही को

प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग में विचार (आइडिया) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नसवीं सदी में कला का कला के लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्य में विचार क्रांति का युग नहीं था। किन्तु क्या चित्रकला में, क्या साहित्य में, इस युग के कलाकार केवल नवीन टेकनीकों का प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा। जागरण युग के कवियों में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यंत सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओं में सामंत युग के समस्त कलावैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्य-स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं। भारत जैसे संपन्न देश का समस्त सामंतकालीन वाङ्मय, अपने युग के सांस्कृतिक समन्वय का विश्वव्यापी स्वप्न देखने के लिए, बुझने से पहले, जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि आलोकित प्रदीप की तरह, एक ही बार में प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश से संसार को परिप्लावित कर गया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण युग के अशांत, संदिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासंभव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोने को सुगंधित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन के सत्य की संपूर्ण अंशों में पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख, दुःख, नैराश्य, विद्रोह आदि की भावनाएँ, उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य, उसकी गुण विशेषता, प्रतिभा आदि

का किसी भी सामाजिक जीव के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा का, परस्पर के सौहार्द्य और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख-दुखों पर भी अनुकूल ही प्रभाव पड़ सकता है और उसको प्रतिभा एवं विशिष्टता के विकास के लिए उसमें कहीं अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति विशेष का समाधान करती है जो यंत्रयुग के प्रथम चरण पूँजीवाद ने धनी और निर्धन वर्गों के रूप में पैदा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। मध्ययुगों की 'अन्न वस्त्र पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित' जनता का इस वाष्पविद्युद्गामी युग में संपूर्ण जीर्णोद्धार न करना उनके मनुष्यत्व के प्रति कृतघ्नता के सिवा और कुछ नहीं है। युगवाणी का 'कर्म का मन' चेतन और सामूहिक (कांसस एंड कलक्टिव) कर्म का दर्शन है, जो सामूहिक सृजन और निर्माण का, 'भव रूप कर्म' का संदेश देता है।

विशिष्ट व्यक्ति की चेतना सदैव ही ह्रासोन्मुख समाज की रूढ़ि-रीति-नीतियों से ऊपर होती है, उसके व्यक्तित्व की सार्वजनिक उपयोगिता रहती है। अतएव उसे किसी समाज और युग में मान्यता मिल सकती है। विचार और कर्म में किसका प्रथम स्थान है, हीगल की 'आइडिया' प्रमुख है कि मार्क्स का 'मैटर' ऐसे तर्क और उहापोह व्यर्थ जान पड़ते हैं। उन्नीसवीं सदी के शरीर और मनोविज्ञान सम्बन्धी अथवा आदर्शवाद एवं वस्तुवाद सम्बन्धी विवादों की तरह हमारा अध्यात्म और भौतिकवाद सम्बन्धी मतभेद भी एकांगी है। आधुनिक, भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं!

× × ×

आज इस संक्षिप्त 'वीणा-ग्राम्या' चयन के पृष्ठों पर आरपार दृष्टि डालने से मुझे यही जान पड़ता है कि जहाँ मेरी कल्पना ने मेरा साथ दिया है वहाँ मैं भावी मानवता के सत्य को सफलता पूर्वक वाणी दे सका हूँ और जहाँ मैं,

किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ वहाँ मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है, और मैं केवल आंशिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रश्नावली के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है जो सुहृद्वर श्री वात्स्यायन जी ने, मेरे आलोचक की हैसियत से, ऑल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट किए जाने के लिए तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आशय प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतांतरों द्वारा, इस संदिग्धकाल के घृणा-द्वेष-कलह के वातावरण के भीतर से अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान, स्वप्न, कल्पना सब घुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृति चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जाएंगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्व निर्माण में निरत, मानवता से अपनी सृजन सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यंत सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों में अपने संबन्ध में लिखने में यदि कहीं, ज्ञात अज्ञात रूप से, आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ, मैंने कहीं-कहीं अपने को दुहराया है और शायद विवादपूर्ण सिद्धांतों का विस्तार पूर्वक समाधान भी नहीं किया है। अन्त में मैं 'ग्राम्या' की अन्तिम 'विनय' से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर लेखनी को विराम देता हूँ,—

'हो धरणि जनों की : जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर !'

२४ दिसंबर १९४१) [आधुनिक कवि भाग २ से—

# दृष्टिपात

'युगवाणी' का तीसरा संस्करण पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसमें मैं युगवाणी के कलापक्ष के सम्बन्ध में दो शब्द लिखकर, पाठकों की सुविधा के लिए, युग दर्शन के प्रमुख तत्वों पर भी प्रकाश डाल रहा हूँ।

'युगवाणी' को मैंने गीत गद्य इसलिए नहीं कहा कि उसमें काव्यात्मकता का अभाव है; प्रत्युत, उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार भावना प्रधान है। युग के खँडहर पर 'युगवाणी' का काव्य सौन्दर्य प्रभात के ईषत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है, जिसे कला-प्रेमी, ध्वंस के ढेर से दृष्टि हटा कर, सहज ही देख सकते हैं।

युगवाणी की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है। जिस परंपरागत मधुवन को हम पल्लवों के मर्मर से लज्जारुण और फूलों के रंग गुंजन से यौवन गर्वित देखते आए हैं उसकी दक्षिण पवन (काव्य प्रेरणा ?) शिशिर में ठंढी उसासें भर, आज ढेर-ढेर पीले पुराने पत्तों को युग परिवर्तन की आँधी में उड़ा कर,—जैसे, उन टूटते हुए स्वप्नों पर स्थिर चरण न रख सकने के कारण ही प्रलय नृत्य करती हुई,—नई संस्कृति के बीज बिखेर रही है! 'युगवाणी' में आप टेढ़ी-मेढ़ी पतली-ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ 'वासांसि जीर्णानि विहाय', सौन्दर्य देखेंगे, जिससे नव प्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं; जहाँ ओसों के झरते हुए अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा में हँसते हुए से दिखाई देते हैं; जहाँ शाखा-प्रशाखाओं के अंतराल से—जिनमें अब भी कुछ विवर्ण पत्ते अटके हुए हैं—छोटे-बड़े, तरह-तरह के, भावनाओं के नीड़, जाड़ों की ठिठुरती काँपती हुई महानिशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर, नवीन कोंपलों से छनते हुए नवीन आलोक तथा नवीन ऊष्णता का स्पर्श पाकर, फिर से संगीत मुखर होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीड़े चाट जाते हैं, उसकी सूक्ष्म स्नायुओं से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखने वालों को आश्चर्य चकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य स्फाति की झाँकी आप 'युगवाणी' में भी पाएँगे। तब आप सहज ही 'युगवाणी' के स्वरों में कह उठेंगे—

**सदियों से आया मानव जग में यह पतझर !**

और,—

**जीवन वसंत तुम, पतझर बन नित आती,**
**अपरूप, चतुर्दिक सुन्दरता बरसाती !**

'युगवाणी' में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती हैं,—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं—

( १ ) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

( २ ) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

( ३ ) पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं।

( ४ ) मार्क्सवाद तथा फ्रॉयड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव : जन समाज का पुनःसंगठन एवं दलित लोक समुदाय का अंगीकार।

( ५ ) बहिर्जीवन के साथ अंतर्जीवन के संगठन की आवश्यकता : राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।

'युगवाणी' की कुंजी उसकी बापू शीर्षक पहली कविता में है,—

भूतवाद उस स्वर्ग के लिये है केवल सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !

मानव-जीवन एवं समाज का रूपांतर करने तथा पृथ्वी पर मानव स्वर्ग

बसाने का वस्तु-स्वप्न नवीन युग की भावात्मक देन है। मध्ययुग के दार्शनिकों ने जिस प्रकार बाह्य जीवन-सत्य की अवहेलना कर जगत को माया या मिथ्या कहा है और आधुनिक भूतदर्शन जिस प्रकार अन्तर्जीवन सत्य की उपेक्षा कर उसे बहिर्जीवन के अधीन रखना चाहता है, युगवाणी में इन दोनों एकांगी दृष्टिकोणों का खंडन किया गया है।

लोक-कल्याण के लिए जीवन की बाह्य (संप्रति राजनीतिक आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों में सन्तुलन होना चाहिए। जहाँ एक ओर असंख्य नंगे भूखों का उद्धार करना ज़रूरी है वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीति-नीतियों की श्रृंखलाओं से मुक्त होकर मानव चेतना को, युग उपकरणों के अनुरूप, विकसित लोक-जीवन निर्माण करने में संलग्न होना है।

'युगवाणी' को विश्वमूर्ति कहा है, जिससे वह जातिगत मन से मुक्त होकर विश्वमन एवं युग के लोकमन को अपने स्वरों में मूर्त कर सके : मनुष्य की अंतर्चेतना में जो सत्य अभी अमूर्त है उसे रूप दे सके : जीवन सौन्दर्य की जो मानसी प्रतिमा आज अंतर्मन में विकसित हो रही है उसे भौतिक जीवन में साकार कर सके; और हमारा मनः स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आए। कहीं-कहीं भावी जीवन की कल्पना प्रत्यक्ष हो उठी है। यथा, अब छंदों और प्रासों में सीमित कविता विश्व जीवन के रूप में बहने लगी है, मानव जीवन ही काव्यमय बन गया है : कलात्मक भाव जीवन की वास्तविकता में बँध गए हैं। ऐसे संसार में, जहाँ सांस्कृतिक शक्तियाँ उन्मुक्त हो गई हैं अब जीवन संवर्धण एवं समाज-निर्माण का श्रम सुखद सुन्दर लगता है।

इस युग के असंगठित जीवन को अंधकार कहा है, संगठित मन को प्रकाश। विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है, जिससे देव बनने के एकांगी प्रयत्न में हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन में पशुओं से भी नीचे न गिर जायँ। देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहें और मानव दुर्बलताओं के भीतर से अपना निर्माण एवं विकास कर सकें। नवीन समाज की परिस्थितियाँ हमें आदर्शों की ओर ले जाने

पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीड़े चाट जाते हैं, उसकी सूक्ष्म स्नायुओं से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखने वालों को आश्चर्य चकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौन्दर्य स्क्रांति की झाँकी आप 'युगवाणी' में भी पाएँगे। तब आप सहज ही 'युगवाणी' के स्वरों में कह उठेंगे—

**सदियों से आया मानव जग में यह पतझर !**

और,—

**जीवन वसंत तुम, पतझर बन नित आती,**
**अपरूप, चतुर्दिक सुन्दरता बरसाती !**

'युगवाणी' में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषता रखती हैं,—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं—

( १ ) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समवन्य, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

( २ ) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

( ३ ) पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं।

( ४ ) मार्क्सवाद तथा फ्रॉयड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव : जन समाज का पुनःसंगठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार।

( ५ ) बहिर्जीवन के साथ अंतर्जीवन के संगठन की आवश्यकता : राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।

'युगवाणी' की कुञ्जी उसकी बापू शीर्षक पहली कविता में है,—

**भूतवाद उस स्वर्ग के लिये है केवल सोपान,**
**जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !**

मानव-जीवन एवं समाज का रूपांतर करने तथा पृथ्वी पर मानव स्वर्ग

बसाने का वस्तु-स्वप्न नवीन युग की भावात्मक देन है। मध्ययुग के दार्शनिकों ने जिस प्रकार बाह्य जीवन-सत्य की अवहेलना कर जगत को माया या मिथ्या कहा है और आधुनिक भूतदर्शन जिस प्रकार अन्तर्जीवन सत्य की उपेक्षा कर उसे बहिर्जीवन के अधीन रखना चाहता है, युगवाणी में इन दोनों एकांगी दृष्टिकोणों का खंडन किया गया है।

लोक-कल्याण के लिए जीवन की बाह्य (संप्रति राजनीतिक आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों में सन्तुलन होना चाहिए। जहाँ एक ओर असंख्य नंगे भूखों का उद्धार करना ज़रूरी है वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीति-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त होकर मानव चेतना को, युग उपकरणों के अनुरूप, विकसित लोक-जीवन निर्माण करने में संलग्न होना है।

'युगवाणी' को विश्वमूर्ति कहा है, जिससे वह जातिगत मन से मुक्त होकर विश्वमन एवं युग के लोकमन को अपने स्वरों में मूर्त कर सके : मनुष्य की अंतर्चेतना में जो सत्य अभी अमूर्त है उसे रूप दे सके : जीवन सौन्दर्य की जो मानसी प्रतिमा आज अंतर्मन में विकसित हो रही है उसे भौतिक जीवन में साकार कर सके; और हमारा मनः स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आए। कहीं-कहीं भावी जीवन की कल्पना प्रत्यक्ष हो उठी है। यथा, अब छंदों और प्रासों में सीमित कविता विश्व जीवन के रूप में बहने लगी है, मानव जीवन ही काव्यमय बन गया है : कलात्मक भाव जीवन की वास्तविकता में बँध गए हैं। ऐसे संसार में, जहाँ सांस्कृतिक शक्तियाँ उन्मुक्त हो गई हैं अब जीवन संवर्धण एवं समाज-निर्माण का श्रम सुखद सुन्दर लगता है।

इस युग के असंगठित जीवन को अंधकार कहा है, संगठित मन को प्रकाश। विकसित व्यक्तिवाद के साथ ही विकसित समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है, जिससे देव बनने के एकांगी प्रयत्न में हम मनुष्यत्व से विरक्त होकर सामाजिक जीवन में पशुओं से भी नीचे न गिर जायँ। देवत्व को आत्मसात् कर हम मनुष्य बने रहें और मानव दुर्बलताओं के भीतर से अपना निर्माण एवं विकास कर सकें। नवीन समाज की परिस्थितियाँ हमें आदर्शों की ओर ले जाने

वाली हों। हमारा मन युग-युग के छायाभावों से संत्रस्त न रहे, हम आज के मनुष्य की चेतना का, जो खंड युगों की चेतना है, विकसित विश्व परिस्थितियों के अनुरूप संगठन एवं निर्माण कर सकें।

अपने देश में जन-साधारण के मन में जीवन के प्रति जो खोखले वैराग्य की भावना घर कर गई है उसका विरोध कर नवीन सामाजिक परिस्थतियों के आधार पर नवीन मानसिक जीवन प्रतिष्ठित करने पर ज़ोर दिया गया है। भौतिक विज्ञान के विकास के कारण भू-रचना के जिस भावात्मक दर्शन का इस युग में आविर्भाव हुआ है उसे युग-दर्शन का एक मूल्य स्तंभ माना है।

मध्ययुग आत्म-दर्शन या आत्मवाद का सक्रिय, संगठित एवं सामूहिक प्रयोग नहीं कर सका। तब भौतिक विज्ञान इतना समुन्नत नहीं था; वाष्प, विद्युत्, रश्मि आदि मानव जीवन के वाहन नहीं बन सके थे। जीवन की वाह्य परिस्थितियाँ एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय और जड़ हो गई थीं। मध्ययुगीन विचारकों, संतों एवं साधुओं के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे विश्व संचरण के प्रति निरीह होकर (मायावाद-मिथ्यावाद आदि जिसके दुष्परिणाम हैं) व्यक्ति से सीधे परात्पर की ओर चले जायँ। उनके नैतिक उन्नयन के प्रयत्न भगीरथ प्रयत्न कहे जा सकते हैं पर वे राम-प्रयत्न या कृष्ण-प्रयत्न (जिन्हें राम कृष्ण अवतरण कहना उचित होगा) नहीं थे, जिनके द्वारा विश्व संचरण में भी प्रकरांतर या युगांतर उपस्थित्त हो सकता और जिनकी विकसित चेतना विश्व जीवन के रूप में संगठित एवं प्रतिष्ठित हो सकती। वर्तमान युग, नैतिक उन्नयन से अधिक, इसी प्रकार के बहिरंतर रूपांतर की प्रतीक्षा करता है।

रूप सत्य और कर्म के मन से मेरा अभिप्राय लोक-जीवन के संगठित रूप से और संस्कृति के रूप में संगठित मन से है। पिछले जीवन के संगठित सत्य (संस्कृति) को जिसके मूल केवल मध्ययुग की चेतना के आकाश में हैं लोक-संग्रह से प्राणशक्ति ग्रहण करने के लिए अधोमूल बन जाना है, फिर से नीचे से ऊपर की ओर उठना है। गीता में जिस विश्व अश्वत्थ को ऊर्ध्वमूल मधः शाखः कहा है वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार विश्व-मन (अधिमन) एवं जीवन का समस्त सत्य विज्ञान भूमि में बीज रूप में संचित है,

जहाँ से वह जगत जीवन में अवतरित एवं प्रस्फुटित होता है। 'युगवाणी' में, अवतरण और विकास, दोनों संचरणों को महत्त्व दिया है। इसी प्रकार का समन्वय पाठकों की 'ज्योत्स्ना' में भी मिलेगा।

संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचारधारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव, निर्माण, विकास और ह्रास के वृत्त संचरणों पर विश्वास रखती है। अतः नवीन युग की भावना केवल कपोल कल्पना नहीं है। पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है। भविष्य में जब मानव जीवन विद्युत् और अणु शक्ति की सबल टाँगों पर प्रलय वेग से दौड़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की तर्कों वादों में बिखरी हुई चेतना उसका संचालन करने में किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकेगी। इसलिए सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अंतर्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है।

इस युग-विवर्तन में अनेक अभावात्मक एवं विरोधी शक्तियाँ भी काम कर रही हैं जो हमारे पिछले सामाजिक संबंधों की प्रतिक्रियाएँ हैं। वर्तमान राजनीतिक आर्थिक आंदोलन इन्हीं विरोधों को दबाने एवं नवीन भाव परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए जन्म ले रहे हैं। एक विरोधी तत्व और भी है, जो इनसे सूक्ष्म है। वह है मनुष्य का राग-तत्त्व, जो पिछले युगों के संस्कारों से रंजित और सीमित है। इस राग-तत्त्व को अपने विकास के लिए भविष्य में अधिक ऊर्ध्व एवं व्यापक धरातल चाहिए। वर्तमान नारी जागरण और नारी मुक्ति के आन्दोलन उस धरातल पर पहुँचने के लिए सोपान मात्र हैं। राग संबंधी आंदोलन एक प्रकार से अभी अविकसित और पिछड़ा हुआ है। प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान उस पर केवल आंशिक प्रकाश डालता है। मनुष्य स्वभाव को संस्कृत बनाने के लिए रागात्मिका प्रवृत्ति का विकास होना अनिवार्य है। वह एक मूल प्रवृत्ति है। इस वृत्ति के विकास से मनुष्य अपने देवत्व के समीप पहुँच जायगा और संसार में नर-नारी संबंधी रागात्मक मान्यताओं में प्रकारांतर हो

जाएगा। स्त्री पुरुष भौतिक विज्ञान शक्ति से संगठित भावी लोकतंत्र में रहने योग्य संस्कार विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों को छूने लगेगी। राग संबंधी इन संचरण के लिए युगवाणी में यत्र-तत्र संकेत किया गया है।

मुझे विश्वास है इन दृष्टिकोणों से 'युगवाणी' को समझने में पाठकों को सुविधा होगी। दर्शन पक्ष के लिए आधुनिक कवि (भाग दो) की भूमिका को पढ़ना भी उपयोगी सिद्ध होगा। इति।

*(सितम्बर १९४७)* *[ युगवाणी से—*

---

# प्रस्तावना

'उत्तरा' के अंचल में भूमिका के रूप में इन थोड़े से शब्दों को बाँध देना आवश्यक हो गया है, क्योंकि इधर 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' को लेकर मेरी काव्य-चेतना के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रांतियों का प्रचार हुआ है। इस प्रस्तावना का उद्देश्य उन तर्कों या उच्छ्वासों का निराकरण करना नहीं, केवल पाठकों के सामने, कम से कम शब्दों में, अपना दृष्टिकोण भर उपस्थित कर देना है। वैसे, मेरा विचार अगले काव्य संकलन में 'युगांत' के बाद की अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचनात्मक निबंध लिखने का है, पर वह कल की बात है।

मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित् प्रयत्नों द्वारा, वाणी देने का रहा है जो हमारे संक्रांति-काल की देन है और जिसने, एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों में 'ज्योत्स्ना' काल से प्रारम्भ हो गए थे; 'ज्योत्स्ना' की स्वप्न-क्रांत चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गई है।

'वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आंगन पर
तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर!—

'चाँदनी' को संबोधित 'ज्योत्स्ना'-'गुंजन' काल की इन पंक्तियों में पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर पाठक स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। बाहरी दृष्टि से उन्हें 'युगवाणी' तथा 'स्वर्णकिरण' काल की रचनाओं में शायद परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।

'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपांतरित होने की ओर

इंगित किया है 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अंतर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से, इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण' स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर; जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं। किंतु किसी लेखक की कृतियों में विचार साम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आंदोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।

हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओं से संबद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरण वादी तथा युग्मचेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं। ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्यूनिस्ट भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त-क्रांति और वर्ग-युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ, जिसकी ओर मैं 'आधुनिक कवि', की भूमिका में इंगित कर चुका हूँ। अपने प्रगतिशील सहयोगियों की इधर की आलोचनाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से अधिक मेरे समर्थकों की विवेचनाओं तथा व्याख्याओं से क्षुब्ध हैं और उनके लिखने के ढंग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नहीं हो सके हैं, जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवांछनीय है।

अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जन-तंत्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-मानवता अथवा लोक मानवता का युग मानता हूँ, और वर्ग युद्ध को इस युग के विराट् संघर्ष का एक राजनीतिक चरण मात्र। राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है; एक तो राजनीति के नक्कारख़ाने में साहित्य की तूती की आवाज़ कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे, इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ; ये परस्पर संघर्ष-निरत तथा शक्ति-लोलुप होने पर भी इस युग के अभावों को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करते हैं, अपनी सीमाओं के भीतर उनका उपचार भी खोजते हैं, और बहिरंतर के दैन्य से पीड़ित, पिछले युगों की अस्थि कंकाल रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रख कर सुखभोगकामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओं से अवगत तथा साधनों से असंतुष्ट होने पर भी मैं अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओं से परिचित एवं पीड़ित हूँ।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक आर्थिक हलचलों की वाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य ( भावी ) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आंदोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में, एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक-आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—संपूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा; भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक ( इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक ) तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जाएँगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जाएगा—अथवा राजनीतिक आंदोलन सांस्कृतिक आंदोलनों में बदल जाएँगे, जिसका पूर्वाभास हमें, इस युग की सीमाओं के भीतर, महात्मा जी के व्यक्तित्त्व में मिलता है।

इस दृष्टि से मैं युग की प्रगति की धाराओं का क्षेत्र, वर्ग-युद्ध में भी

मानते हुए (यद्यपि अपने देश के लिए उसे अनावश्यक तथा हानिकर समझता हूँ ), उससे कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानता हूँ और सुधार-जागरण के प्रयत्नों को भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक समझता हूँ; क्योंकि जिस संचरण का वाहरी रूप क्रांति है उसी का भीतरी रूप विकास। अतएव युग-पुरुष को पूर्णतः सचेष्ट करने के लिए यदि लोक-संगठन के साथ गांधीवाद को पीठिका बना कर मनः संगठन ( संस्कार ) का भी अनुष्ठान उठाया जाय और मनुष्य की सामाजिक चेतना ( संस्कृति ) का विकसित विश्व-परिस्थितियों ( वाष्प विद्युत् आदि ) के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय किया जाय तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्रांति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के संगीत तथा मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है; एवं क्रांति के भीतरी पक्ष को भी सचेष्ट कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है। इस युग के क्रांति विकास, सुधार जागरण के आंदोलनों की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यम्भावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के संपूर्ण स्तरों का रूपांतर कर देगी तथा विश्व-जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदल कर सामाजिक सम्बन्धों को नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी। इसी सांस्कृतिक चेतना को मैं अंतर्चेतना या नवीन सगुण कहता हूँ। मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तंत्र के बाह्य रूप में ही न देख कर भीतरी, प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ, और जनतंत्रवाद की आंतरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अंतर्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ,—जिस अर्थ में मैंने अपनी इधर की रचनाओं में इनका प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में, जिस विकासकामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातंत्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर मैं अंतर्चेतना एवं अंतर्जीवन कहता हूँ। इस युग के जड़ ( परिस्थितियाँ, यंत्र तथा तत्सम्बन्धी राजनीतिक आर्थिक आंदोलन ) तथा चेतन ( नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्संबंधी मान्यताएँ आदि ) का संघर्ष इसी अंतर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। अतः मैं वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहंता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप में परिणति

संभव समझता हूँ और युग-संघर्ष में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अंतर्मानव का संघर्ष भी देखता हूँ।

इस प्रकार मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जन-युग की धरती से ऊपर उठ कर उसकी ऊपरी मानवता की चोटी को भी अपने फड़कते हुए पंख से स्पर्श करता है; क्योंकि जो युग-विप्लव मानव जीवन के आर्थिक राजनीतिक धरातलों में महान् क्रांतिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक आस्थाओं में भी आंतरिक विकास तथा रूपांतर उपस्थित करने जा रहा है; और जैसा कि मैं 'युगवाणी' की भूमिका में लिख चुका हूँ, "भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत तथा अणु-शक्ति की प्रबल टांगों पर प्रलय-वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी......बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अंतर्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है!"—इसी नवीन चेतना की मनः क्रीड़ा, उसके आनन्द और सौन्दर्य, उसकी आशा-विश्वासप्रद प्रेरणाओं के उद्बोधन गान मेरी उधर की रचनाओं के विषय हैं, जो जन-युग के संघर्ष में मानव-युग के उद्भव की स्वप्न सूचनाएँ भर हैं। ऐसा कह कर मैं किसी प्रकार की आत्मश्लाघा को प्रश्रय नहीं दे रहा हूँ। 'उत्तरा' के किसी गीत में मैंने—

"मैं रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
आगे आएँगे तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण!"—

किसी विनम्रतावश नहीं, अपनी तथा अपने युग की सीमाओं के कटु अनुभव तथा नवीन चेतना की लोकोत्तरता पर विश्वास के कारण ही लिखा है।

मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनः संगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, संप्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं

के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अब खिसक गई है और जो मानव चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त की हुई हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक संगठन तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग ( लोक ) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

मुझे ज्ञात है कि सभी प्रकार के सुधार जागरण के प्रयत्न क्रांति के प्रतिरोधी माने जाते हैं; पर ये इस युग के वादों तथा तर्कों की सीमाएँ हैं, जिनका दार्शनिक विवेचन अथवा विश्लेषण करना इस छोटी-सी भूमिका के क्षेत्र से बाहर ही का विषय नहीं, वह व्यर्थ का प्रयास भी होगा। जिनका मस्तिष्क वादों से आक्रांत नहीं हो गया है, वे सहज ही अनुभव कर सकेंगे कि जन संघर्ष ( राजनीतिक धरातल ) में जो युग जीवन का सत्य द्वंद्वों के उत्थान-पतन में अभिव्यक्ति पाकर आगे बढ़ रहा है वह मनुष्य की चेतना ( मानसिक सांस्कृतिक धरातलों ) में एक विकसित मनुष्यत्व के रूप में संतुलन ग्रहण करने की भी प्रतीक्षा तथा चेष्टा कर रहा है। जो विवेचक सभी प्रकार के मनः संगठन तथा सांस्कृतिक प्रयत्नों को प्रतिक्रियात्मक तथा पलायनवादी कह कर उनका विरोध करते हैं उनकी भावना युग प्रबुद्ध होने पर भी विचारधारा वादों से पीड़ित तथा बुद्धि भ्रम से ग्रस्त है।

अपने लोक-प्रेमी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवकों को ध्यान में रखते हुए, जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित तथा महान् त्याग करने में समर्थ हैं, मैं इसे केवल अपने युग-मन की कमी अथवा सीमा कहूँगा। हमारा युग-मन परिस्थितियों के प्रति जाग्रत् तथा पर्याप्त लब्ध-बोध होने पर भी अनुभूति की दृष्टि से अभी अपरिपक्व है, और इसके अनेक कारण हैं। हम अभी यंत्र का मानवीकरण नहीं कर सके हैं, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं; बल्कि वही अभी हम पर आधिपत्य किए हुए है। यंत्र-युग ने हमें जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है, वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बन कर रह गया है; उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणत कर शोषक शोषितों के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त-पंकिल विक्षोभ तथा असंतोष से

भर दिया है, वहाँ हमारे भोग विलास तथा अधिकार-लालसा के स्तरों को उकसा कर हमें अविनीत भी बना दिया है; किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलों तथा सांस्कृतिक चेतना को छू कर मानवीय गौरव से मंडित नहीं हो सका है,—दूसरे शब्दों में, यंत्र-युग का मनुष्य की चेतना में अभी सांस्कृतिक परिपाक नहीं हुआ है।

जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारकों ने आत्मवाद से प्रकाश-अंध होकर मानव-चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कह कर भुला देना चाहा (जिसका कारण मैं 'युगवाणी' की भूमिका में दे चुका हूँ) उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी—यद्यपि आधुनिकतम भूतविज्ञान पदार्थ के स्तर को अतिक्रमण कर चुका है तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था ही में मानते हैं, चेतन मन तथा हेतुवाद (रेशनलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन अवचेतन के सिद्धांतों को देने लगा है—और विशेष-कर मार्क्सवादी भौतिकता के अंधकार में और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अंतर्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्ब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अति विधान कह कर उड़ा देना चाहते हैं; जो मान्यताओं की दृष्टि से, ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है। किन्तु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिज़िक्स) के सिद्धान्तों द्वारा जड़ चेतन (मैटर स्पिरिट) की गुत्थी को सुलझाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए संभव नहीं। अतएव साहित्य के क्षेत्र में मान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों में उलझ रहे हैं उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार कर लें। वास्तव में चाहे चेतना को पदार्थ (अन्न) का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाय चाहे पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरा-तल दोनों ही मानव जीवन में अविच्छिन्न रूप से, वागर्थाविव, जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार पदार्थ का संचरण परिस्थितियों के सत्य या गुणों में अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार चेतना का संचरण मन के गुणों में; लोक-जीवन के विकास के लिए दोनों ही में सामंजस्य स्थापित करना नितांत आवश्यक है। पदार्थ, जीवन,

नन तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि के विभाजन भर हैं; संपूर्ण सत्य इन से परे तथा इनमें भी व्याप्त होने के कारण एक तथा अखंडनीय हैं। सभ्यता के विकास क्रम में जब मनुष्य का मन एवं चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है और विभिन्न युगों में अंतर्मन की मान्यताएँ भी (धर्म, अध्यात्म, ईश्वर संबंधी) स्वीकृत हो कर लोक-कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी हैं, तब आज उन सबका बहिष्कार कर केवल मांस-पेशियों के संगठित बल पर मानव जीवन के रथ या महायान को आगे बढ़ाने का दुःसाहस मेरी दृष्टि में केवल इस युगके दुर्दांत विक्षोभ का अंध विद्रोह ही है।

मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका संचरण वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है। किंतु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या बिम्ब प्रतिबिम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है; और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व-कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्मत्याग, सचाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपना कर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं—दोनों शिविरों का संयुक्त कर्म

भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।

वास्तव में हमारी कठिनाइयों का कारण है हमारी एकांगी शिक्षा तथा सदियों की राजनीतिक पराधीनता के कारण पश्चिमी विचार-दर्शन तथा साहित्य की दासता। साधारणतः हमारा बुद्धिजीवी युवक—जो विदेशी सभ्यता या संस्कृति से बाहर ही बाहर प्रभावित है और अपने देश के विराट् ज्ञान-भांडार से प्रायः अपरिचित—यह समझता है कि भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिकता तथा दर्शन पिछली सामंती परिस्थितियों का प्रकाश (संगठित ज्ञान) मात्र है, जिसकी इस युग में कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। वह सोचता है कि इस युग के विज्ञान-दर्शन तथा मनोविज्ञान ने जीवन के प्रति मानव के दृष्टिकोण को ऐसा आमूल परिवर्तित कर दिया है कि हमारी विकसित परिस्थितियों से उद्भूत चेतना ही मानव जीवन का नवीन दर्शन बन सकती है और आध्यात्मिकता का मोह केवल हमारा अतीत का गौरव-गान है। किन्तु इसमें तथ्य इतना ही है कि पदार्थ विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है और उसके फलस्वरूप अपनी भौतिक परिस्थितियों को वाष्प विद्युत् आदि का संजीवन पिला कर अधिक सक्रिय बना दिया है; जिनमें नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने के लिए इस युग के राजनीतिक आर्थिक आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है; किन्तु परिस्थितियों की सक्रियता के अनुपात में हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर प्रबुद्ध तथा अंतःसंगठित न हो सकने के कारण युग के राजनीतिक आर्थिक-संघर्ष मानव सभ्यता को अभ्युदय की ओर ले जाने के बदले, विश्व युद्धों का रूप धारण कर, भूव्यापी रक्तपात तथा विनाश ही की ओर अग्रसर करने में सफल हो सके हैं; और संहार के बाद निर्माण के क्षण आशाप्रद सिद्धान्त को भी अब एटमबम के भयानक आविर्भाव ने जैसे एक बार ही धराशायी कर दिया है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के विचारों के मन को नहीं छू सका है। उसने केवल हमारे भावनाओं के मन में हलचल भर पैदा की है। पिछली दुनिया की नैतिकता अभी मनुष्य के मोहग्रस्त चरणों में उसी प्रकार चाँदी के भारी भद्दे संकीर्ण कड़े की तरह पड़ी हुई है, जिससे मानव चेतना का सौंदर्यबोध

तथा उसकी राग भावना की गति पग-पग पर कुंठित होकर, स्त्रियों के अधिकार आंदोलनों के रूप में, आगे बढ़ने का निष्फल प्रयत्न कर रही है। किन्तु मानव चेतना की नैतिक लँगड़ाहट को दूर करना शायद कल का काम है; उससे पहिले मानव जाति के दृष्टिकोण का व्यापक आध्यात्मिक रूपांतर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अध्यात्मवाद का स्थान मानव के अंतरतम शुभ्र शिखरों पर सदैव के लिए वैसा ही अक्षुण्ण बना हुआ है और रहेगा जैसा कि वह शायद पहले भी नहीं था।

भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन (मार्क्सवाद) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण; क्योंकि वह पदार्थ, प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलों का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषत् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है। दुर्भाग्यवश हमारे तरुण बुद्धिजीवी अध्यात्मवाद को बादलों के ऊपर का कोई सत्याभास मानते हैं और उसे हमारे प्रतिदिन के जीवन के एक सूक्ष्म किन्तु सक्रिय सत्य के रूप में नहीं देखते। जिस प्रकार पदार्थ का एक भौतिक तथा मानसिक स्तर है उसी प्रकार उसका एक आध्यात्मिक स्तर भी।

पदार्थ तथा चेतना के धरातलों पर व्यर्थ न विलम (रुक) कर हमारे युग को—और ऐसे युग सभ्यता के इतिहास में सहस्रों वर्षों बाद आते हैं—वैयक्तिक सामूहिक आवश्यकताओं के अनुरूप इन दोनों मौलिक संचरणों में नवीन सामंजस्य स्थापित कर, एवं जीवन के शतदल को मानस जल के ऊपर नवीन सौंदर्यबोध में प्रतिष्ठित कर, उसमें पदार्थ की पंखड़ियों का संतुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग ऐश्वर्य (विकास) भरना ही होगा। जीवन निर्माण के आवेश में बह जाने के कारण तथा भौतिक दर्शन के अपर्याप्त दृष्टिकोण के कारण, इस युग के साहित्य में और भी अनेक प्रकार की भ्रांतियों का प्रचार हो रहा है। यदि पुरानी दुनिया (मध्य युग) अति वैयक्तिकता के पक्षपात से पीड़ित थी तो नई दुनिया अति सामाजिकता के दलदल में फँसने जा रही है; जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि कालांतर में मनुष्य की सुख-शांति एक किमाकार यांत्रिक तंत्र के दुःसह बहिर्भूत भार से दब जाएगी और वैयक्तिक अतः

संचरण का दम घुटने लगेगा। हमें व्यावहारिक दृष्टि से भी व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतंत्र अन्योन्याश्रित सिद्धांतों की तरह स्वीकार करना ही होगा तथा मनुष्य की बहिरंतर्मुखी प्रवृत्तियों के विकास और सामंजस्य के आधार पर ही विश्वतंत्र को प्रतिष्ठित करना होगा। दोनों संचरणों की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशांति को जन्म देना होगा। इसमें संदेह नहीं कि सभ्यता के विकासक्रम में जब हमारा मनुष्यत्व निखर उठेगा एवं जठर का संघर्ष उत्पादन वितरण के संतुलन में निःशेष या समाप्तप्राय हो जाएगा, मनुष्य का बहिर्जीवन उसके अंतर्जीवन के अधीन हो जाएगा ; क्योंकि मनुष्य के अंतर्जीवन तथा बहिर्जीवन के सौन्दर्य में इतना प्रकारांतर है जितना सुन्दर मांस की देह तथा मिट्टी की निर्जीव प्रतिमा में !—किन्तु यह कल का स्वप्न है।

तथोक्त गहन मनोविज्ञान-संबंधी निरुद्ध भावना, काम ग्रंथि आदि के परिज्ञान ने हमारी उदात्त भावना, आत्म-निग्रह आदि की धारणाओं के अर्थ का अनर्थ कर दिया है। उन्नयन का अर्थ दमन या स्तंभन, संयम का आत्मपीड़न या निषेध तथा आदर्श का अर्थ पलायन हो गया है। उपचेतन अवचेतन के निम्न स्तरों को इतनी प्रधानता मिल गई है कि अव्यक्त या प्रच्छन्न (सबलिमिनल) मन के उच्च स्तरों के ज्ञान से हमारा तरुण बुद्धिजीवी अपरिचित ही रह गया है; भारतीय मनोविश्लेषक इड, लिबिडो तथा प्राण चेतना सत्ता (फ्रॉयडियन साइको) के चित्र-आवरण को चीर कर गहन शुभ्र जिज्ञासा करता है,—'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?' किन्तु हमारे निष्प्राण प्रेरणा शून्य साहित्य में उपचेतन की मध्यवर्गीय रुग्ण प्रवृत्तियों का चित्रण ही आज सृजन कौशल की कसौटी बन गया है और वे परस्पर के अहंकार-प्रदर्शन, लांछन, तथा घात प्रतिघात का क्षेत्र बन गई हैं, जिससे हम कुंठित बुद्धि के साथ संकीर्ण हृदय भी होते जा रहे हैं।

इस प्रकार की अनेक भ्रांतियों तथा मिथ्या धारणाओं से आज हमारी सृजन-चेतना पीड़ित है और प्रगतिशील साहित्य का स्तर संकुचित होकर प्रतिदिन नीचे गिरता जा रहा है। हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़ कर अपने देश का प्रशांत गंभीर, प्रसन्न मुख

देखना ही नहीं चाहते। हममें अपनी भूमि के विशिष्ट मानवीय पदार्थ को समझने की क्षमता ही नहीं रह गई है। हम इन सदियों के खंडहर का बाहरी दयनीय रूप देख कर क्षुब्ध तथा विरक्त हो जाते हैं और दूसरों का बाहर से सँवारा हुआ मुख देख कर उनका अनुकरण करने लगते हैं। मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है, एक बार संयुक्त प्रयत्न कर हमें इससे ऊपर उठना होगा और अपने देश की युग-युग के अनुभव से गंभीर परिपक्व आत्मा को, उसके अंतः सौन्दर्य से तपोज्वल शांत सुन्दर मुख को पहचान कर अपने अंतःकरण को उसकी गरिमा का उपयुक्त दर्पण बनाना होगा। तभी हम अन्य देशों से भी आदान-प्रदान करने योग्य हो सकेंगे, उनके प्रभावों तथा जीवन-अनुभूतियों को यथोचित रूप से ग्रहण करने एवं अपने संचय को उन्हें देने के अधिकारी बन सकेंगे, और इस प्रकार विश्व-निर्माण में जाग्रत सक्रिय भाग ले सकेंगे।

मुझे ज्ञात है कि मध्य युगों से हमारे देश के मन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ, संकीर्णताएँ तथा दुर्बलताएँ घर कर गई हैं, जिनके कुछ तो राजनीतिक कारण हैं, कुछ हमारी सामंत संस्कृति के बाहरी ढांचे की अवश्यम्भावी सीमाएँ और कुछ उत्थान के बाद पतन वाला जीवन की विकासशील परिस्थितियों पर प्रयुक्त सिद्धान्त। प्रायः उन सभी मर्म-व्याधियों एवं स्थलों पर इस युग के हमारे बड़े-बड़े विचारक, साहित्यिक तथा सर्वाधिक महात्माजी, अपने महान् व्यक्तित्व का प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अंतश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता; और यह मेरा अतीत का गौरवगान नहीं, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि मात्र है।

हम आज विश्व-तंत्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप में सोचते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि विश्व-योजना में विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धान्त अंतर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का; दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्। विविध तथा अविभक्त

होना जीवन-सत्य का सहज अंतर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें ऐक्य और वैचित्र्य संयोजित न हों। इसलिए देश प्रेम अंतर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मैं सोचता हूँ कि भारत पर भावी विश्व-निर्माण का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अंतःस्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों, बुद्धिजीवियों तथा लोकनायकों को कितना अधिक प्रबुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-संयुक्त बनने की आवश्यकता है।

हमारी गौतम और गांधी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनीतिक तंत्र या वैज्ञानिक यंत्र का दान नहीं हो सकता; वह संस्कृति तथा विकसित मनोयंत्र की ही भेंट होगी। इस युग के महापुरुष गांधी जी भी अहिंसा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक के ही रूप में दे गए हैं, जिसे हम मानव चेतना का नवनीत, अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं। महात्माजी अपने व्यक्तित्व से राजनीति के संघर्ष-कंटक-पुलकित कलेवर को संस्कृति का लिबास पहनाकर भारतीय बना गए हैं। उनका दान हम भुला भी दें, किन्तु संसार नहीं भुला सकेगा; क्योंकि अणु मृत मानव-जाति के पास अहिंसा ही एकमात्र जीवन-अवलम्ब तथा संजीवन है।

सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों को मैं अंतःसंगठन (संस्कृति) के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ। अहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताओं का दृष्टिकोण है, और ये मान्यताएँ दो प्रकार की हैं। एक ऊर्ध्व अथवा आध्यात्मिक, और दूसरी समदिक्, जो हमारे नैतिक, सामाजिक आदर्शों के रूप में विकास-क्रम में उपलब्ध होती हैं। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस अंतस्थ सूत्र की तरह हैं जो हमारे बहिर्गत आदर्शों को सामंजस्य के हार में पिरो कर हृदय में धारण करने योग्य बना देती हैं।

मैं जानता हूँ कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम बुद्धिजीवियों को जिन सृजनात्मक तथा सांस्कृतिक शक्तियों के प्रादुर्भाव होने तथा उनके विकास के

लिए प्रशस्त क्षेत्र मिलने की आशा थी, वैसा नहीं हो सका है। गांधीवाद सांस्कृतिक चरण अभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुआ है। किन्तु हम सदियों की अव्यवस्था, दुरवस्था तथा परवशता से अभी-अभी मुक्त हुए हैं। हमें अपने को नवीन रूप में पहचानने, नवीन परिस्थितियों में अपना उत्तरदायित्व समझने, और विश्व-क्रांति की गंभीरता को ठीक-ठीक आँकने में अभी समय लगेगा। मैं चाहता हूँ कि पश्चिम के देश, अपने राष्ट्रीय स्वार्थों तथा आर्थिक स्पर्धाओं के कारण, जिस प्रकार अभी तक विश्व-संहार के यंत्रालय बने हुए हैं, भारत एक नवीन मनुष्यत्व के आदर्श में बँध कर, तथा अपने बहिरंतर जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य में संगठित कर, महासृजन एवं विश्व-निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय; और हमारे साहित्यक तथा बुद्धिजीवी, अभिजात की संकीर्ण नैतिकता तथा निम्न वर्ग की दैन्य-पीड़ा की गाथा गाने एवं मध्य के पाठकों के लिए उसका कृत्रिम चित्रण करने में ही अपनी कला की इतिश्री न समझ लें, प्रत्युत युग-संघर्ष के भीतर से जन्म ले रही नवीन मानवता तथा सांस्कृतिक चेतना के संस्पर्शों एवं सौन्दर्य-बोध को भी अपनी कृतियों में अभिव्यक्ति देकर नवयुग के ज्योतिवाहक बन सकें।

मैं जनता के राग-द्वेष, क्रोध तथा असंतोष को भी आदर की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है; किन्तु युग-संचरण को वर्ग-संचरण में सीमित कर देना-उचित नहीं समझता। इस धरती के जीवन को मैं सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है। गंभीर दृष्टि से देखने पर ऐसा नहीं जान पड़ता कि यह जीवन अविद्या का ही क्षेत्र है जहाँ मन तथा आत्मा के संचरण गौण तथा अज्ञान के अधीन हैं। यह केवल तुलनात्मक तथा बाह्य दृष्टिकोण है, जो हमारे ह्रास-युग का सूचक तथा विश्व-असंगठन का द्योतक है। सामाजिक दृष्टि से मैं असंगठन को माया तथा संगठन (जिसमें बहिरंतर दोनों सम्मिलित हैं) को प्रकाश या सत्य कहता हूँ।

अतएव इस राजनीति तथा अर्थशास्त्र के युग में मुझे एक स्वस्थ सांस्कृतिक जागरण की आवश्यकता और भी अधिक दिखाई देती है। राजनीति का क्षेत्र मानव-जीवन के सत्य के संपूर्ण स्तरों को नहीं अपनाता, वह हमारे जीवन

का धरती पर चलनेवाला समतल चरण है; हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चढ़नेवाले एक ऊर्ध्व संचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढाँचे को शक्ति, सौंदर्य, सामंजस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान कर सके; अन्यथा पृथ्वी के गहरे पंक में डूबा हुआ मनुष्य का पांव ऊपर उठ कर आगे नहीं बढ़ सकेगा। अणु बम के आगमन के बाद हमारे अग्नि भुज सैनिक, शक्ति-कामी राजनीतिक, तथा अधिकार-लुब्ध लोक-संगठनों का सत्य अपने आप ही जैसे निरस्त्र तथा परास्त हो गया है। मनुष्य को आज एक अहिंसक संस्कृत प्राणी के स्तर पर उठना ही होगा, एवं जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल कर अपनी शक्ति के लिए नवीन उपयोग ( ऊर्ध्व पथ ) खोजना होगा। एटम बम ने उसके भीतर के आदिम हिंस्र जीव को जैसे सदैव के लिए निहत कर दिया है; वह बलि की तरह अवचेतन की राह से फिर पाताल प्रवेश करने को उद्यत है।

अपने बहिर्मुख (इंद्रियों के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ में आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुख, तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते हैं एवं राजनीतिक आर्थिक प्रणालियों द्वारा उसमें सामूहिक संतुलन स्थापित करते हैं उसी जीवन तत्त्व में हम अंतर्मुख (ऊर्ध्व) मन से आनन्द, अमरत्व, प्रकाश आदि के रूप में अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते हैं, जिसका सामूहिक वितरण हम किन्हीं प्रकार के सांस्कृतिक आंदोलन द्वारा ही कर सकते हैं,—विशेषतः जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है। इस प्रकार के किसी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओं का ज्ञान अधूरा ही रह जाएगा और हम प्रवृत्तियों के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौंदर्य-गौरव से मंडित नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक लोकतंत्र जहाँ हमारे भोग के संचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सांस्कृतिक विश्व-द्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।

संस्कृति शब्द का प्रयोग मैं व्यापक ही अर्थ में कर रहा हूँ। संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ, जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुंफित हैं। उसके भीतर अध्यात्म,

धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढ़ि, रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अंतर-सामंजस्य ग्रहण कर लेता है। वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण है, न राजनीति की तरह समतल; वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है जिसमें दोनों के पोषक तथा प्राणप्रद तत्त्वों के बहिरंतर का वैभव मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा धारण कर लेता है। अतएव संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैंने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन या मनःसंगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अंतर्मन के संगठन हैं। संस्कृति को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एवं बाह्य परिस्थितियों पर अवलंबित अति-विधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है। क्योंकि उसके मूल मन से कहीं गहरे, बाहरी परिस्थितियों के अतिरिक्त, भीतरी सूक्ष्म परिस्थितियों में भी हैं। इस संबंध में अपने 'कला तथा संस्कृति' नामक अभिभाषण का एक अंश यहाँ उद्धृत करता हूँः—"हम कला का मूल्यांकन सत्य, शिव, सुन्दर के मानों से करते हैं। सत्य, शिव, सुन्दर से तत्त्वतः हमारा वही अभिप्राय है, जो आज के वस्तुवादी का क्षुधा काम से अथवा अर्थवादी का परिस्थिति, सुविधा, वितरण आदि से है; क्योंकि हम सत्य, शिव, सुन्दर को क्षुधा, काम (जीवन-आकांक्षाओं) ही के भीतर खोजते हैं,' जिनसे हम बाह्य परिस्थितियों के जगत् से संबद्ध हैं, और इस दृष्टि से क्षुधा-काम हमारी भीतरी स्थूल परिस्थितियाँ हुईं। सत्य, शिव, सुन्दर के रूप में हम अपनी इन्हीं बहिरंतर की परिस्थितियों में संतुलन स्थापित करते हैं। आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणों में केवल धरातल का भेद है, और ये धरातल आपस में अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। सत्य, शिव, सुन्दर संस्कृति तथा कला का धरातल है, क्षुधा-काम प्राकृतिक आवश्यकताओं का। जिस सत्य को हम स्थूल धरातल पर क्षुधा काम कहते हैं, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य शिव सुन्दर। एक हमारी सत्ता की बाहरी भूख प्यास है, दूसरी भीतरी। यदि संस्कृति और कला हमारी आवश्यकताओं के सत्य से बिलकुल ही भिन्न तथा विच्छिन्न होतीं, तो उनकी हमारे लिए उपयोगिता ही क्या होती? वे केवल

स्वप्न तथा अतिकल्पना-मात्र होतीं। साथ ही यदि हमारी क्षुधा-काम की वृत्तियाँ संस्कृत होकर सत्य, शिव, सुन्दर के धरातल पर न उठ जातीं, वे मानवीय नहीं बन सकतीं। हमारी सामाजिक मान्यताएं इसी मानवीकरण अथवा ऊर्ध्व विकास के सिद्धांत पर अवलंबित हैं और मानव सभ्यता का लक्ष्य अंध-प्रवृत्तियों के पशु-जीवन में मानवीय संतुलन स्थापित करना ही रहा है। अतएव हम इसे अच्छी तरह समझ लें कि ये दोनों धरातल बाहर से भिन्न होने पर भी तत्त्वतः अभिन्न तथा एक दूसरे के पूरक हैं।......इसलिए भविष्य में हम जिस मानवता अथवा लोक-संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमें बाहर-भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शक्तियों से काम लेना चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जाएगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप संतुलन आ जाएगा, जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अतिवैयक्तिकता तथा अति सामाजिकता के दुराग्रहमात्र हैं।......

"आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन में बहुत बड़ा संघर्ष तथा विरोध देखने को मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि वह व्यक्ति और विश्व—अथवा समाज—के ही रूप में सोचता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भीतर ही युग-समस्याओं (राजनीतिक अर्थ में) तथा मानव जीवन की समस्याओं (सांस्कृतिक अर्थ में) का समाधान खोजता है; और कभी व्यक्ति से असंतुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से खिन्न होकर व्यक्ति की ओर। मेरी समझ में इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा। जो जीवन-मन-चेतना का तथा सूक्ष्म-स्थूल सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटों से टकराता है, उसे आप समग्र रूप से इस प्रकार नहीं समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब आप उसके व्यक्ति और विश्व-रूपी संचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे, और जीवन-सौन्दर्य के स्रष्टा की तरह उन्हें प्रभावित कर सकेंगे। जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा

मैंने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म-जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूप में देखिए। एक राजनीति के क्षेत्र का सिपाही भले ही उसे द्वन्द्व-तर्क से संचालित, आर्थिक प्रणाली से प्रभावित उत्पादन-वितरण के संघर्ष के रूप में देखे, आप उसे मानव जीवन के प्रवाह के रूप में देखिए, उसमें मानव हृदय का स्पंदन सुनिए और उससे मनुष्य की सांस्कृतिक प्रसव-वेदना का अनुमान लगाइए। आप क्षणभंगुर के अवगुंठन को हटाकर मानव चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिए। तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे। अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच, भिन्न-भिन्न वर्गों-गिरोहों के बीच, भिन्न-भिन्न संप्रदायों, शक्ति-लोलुप संगठनों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के बीच चलनेवाले संघर्ष के प्रचारक मात्र बन जाएँगे; और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियों के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्तव्य से च्युत हो जाएँगे।"

मैं यह विद्या-विनम्र होकर नहीं लिख रहा हूँ कि मुझे अपनी किसी भी कृति से संतोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी-भीतरी परिस्थितियों के बीच का असामंजस्य है। मैंने परिस्थितियों की चेतना के सत्य को कभी अस्वीकार नहीं किया है, जैसा कि मेरी रचनाओं से प्रकट है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' मेरी अस्वस्थता के बाद की रचनाएँ हैं, जिनमें मेरी 'ज्योत्सना'-काल की चेतना संभवतः अधिक प्रस्फुटित रूप में निखर आई है। 'ग्राम्या' सन्' ४० में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद का काल, विशेषकर सन्' ४२ के आंदोलन का समय, जब कि द्वितीय विश्वयुद्ध का चक्र चल रहा था, मेरी मनः स्थिति के लिए अत्यन्त ऊहापोह का युग था।

मेरी कई पिछली मान्यताएँ भीतर ही भीतर ध्वस्त हो चुकी थीं और नवीन प्रेरणाएँ उदय हो रही थीं; 'ग्राम्या' की 'सांस्कृतिक मन' आदि कुछ रचनाओं तथा सन् '४२ के उत्तरार्ध में प्रकाशित मेरी 'लोकायन' की योजना में उन मानसिक हलचलों का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मनः क्लांति भी थी। अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण

समझता था मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' ( द लाइफ़ डिवाइन ) से हो गया। उसके प्रथम खंड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है। अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्रपट के संबंध में मद्रास जाना पड़ा और मुझे पांडिचेरी में श्री अरविन्द के दर्शन करने तथा श्री अरविन्द आश्रम के निकट संपर्क में आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमें सन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन दर्शन, से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योग युक्त (अंतःसंगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्व मान्यताओं संबंधी, मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई हैं। 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि की भूमिका में निवेदन कर चुका हूँ, मैं अपने युग, विशेषतः देश की, प्रायः सभी महान् विभूतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ हूँ। 'वीणा-पल्लव' काल में मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है, 'युगांत' और बाद की रचनाओं में महात्माजी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का; महात्माजी के देह निधन के बाद की रचनाएँ, जो 'युगपथ' में संगृहीत हैं, उनके प्रति मेरे हृदय की श्रद्धा की परिचायक हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति भी मेरी दो रचनाएँ 'युगपथ' में प्रकाशित हो रही हैं। किन्तु इन सब में जो एक परिपूर्ण एवं संतुलित अंतर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्रीअरविन्द के जीवन दर्शन में मिली; और इस अंतर्दृष्टि को मैं इस विश्व-संक्रांति-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ। मैंने अपने समकालीन लेखकों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर समय-समय पर स्तुति-गान लिखने में सुख अनुभव किया है। श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ विनम्र रचनाएँ, भेंट रूप में, 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' तथा 'युगपथ' में पाठकों को मिलेंगी।

श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यंत महान् तथा अतुलनीय विभूति

मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणु शक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत विज्ञान का बड़े से बड़ा दान भी जीवन्मृत मानव जाति के भविष्य के लिए आत्म पराजय तथा अशांति ही का वाहक बन जाता। मैं नहीं कह सकता संसार के मनीषी तथा लोकनायक श्री अरविन्द की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनाएंगे।

यह मेरे कवि हृदय की विनीत अपर्याप्त श्रद्धांजलि मात्र है। ये थोड़े से शब्द मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे तरुण बुद्धिजीवी श्री अरविन्द के जीवन दर्शन से भारत की आत्मा का परिचय तथा मानव और विश्व के अंतर विधान का अधिक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर, लाभान्वित हो सकें। आज हम छोटी-छोटी बातों के लिए पश्चिम के विचारकों का मुंह जोहते हैं, उनके वाक्य हमारे लिए ब्रह्मवाक्य बन जाते हैं और हम अपनी इतनी महान् विभूति को पहचान भी नहीं सके हैं, जिनके हिमालय-तुल्य मनः शिखर के सामने इस युग के अन्य विचारक विंध्य की चोटियों के बराबर भी नहीं ठहरते। इसका कारण यही हो सकता है कि हमारी राजनीतिक पराधीनता की बेड़ियां तो किसी प्रकार कट गईं, किन्तु मानसिक दासता की शृंखलाएँ अभी नहीं टूटी हैं।

सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस-मौन निनादित भारत के एकांत मनोगगन में मार्क्स तथा एंगिल्स के विचार-दर्शन की गर्द बौद्धिकता के शुभ्र अंधकार के भीतर से रेंगनेवाले झींगुरों की रूखी हुई झनकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं। एंगिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या, जिसके उदाहरण स्वरूप, 'नैपोलियन ५ मई को मरा है', तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष', जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है, अथवा ऐसे

इतर सिद्धांतों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नहीं रखता। जिस मार्क्स तथा ऐंगिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्धिजीवी नहीं थकता, उसे अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊंट तथा हिमालय के शिखर में कितना अंतर और क्या भेद है।

मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतंत्र के रूप में मूर्त्त) आदर्शवाद में है, जो जन-हित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किन्तु उसे वर्ग-क्रांति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्गयुद्ध का पहलू फ़ासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जाएगा।

हीगल के द्वन्द्व तर्क में बिम्बित पश्चिम के मनोजगत् का अंतर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युगप्रवर्तकों का मानव-चिन्तन, ऐंगिल्स के अनुसार 'अपनी युग-सीमाओं से बाहर' अवश्य नहीं जा सका है। मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खड़े हीगल को पैरों के बल खड़ा नहीं किया; यूरोप का मनोद्वन्द्व ही तब अपने आर्थिक-राजनीतिक चरणों पर खड़ा होकर 'युद्धं देहि' कहने को सन्नद्ध हो उठा था; जिसका पूर्वाभास पाकर युग-प्रबुद्ध मार्क्स ने उस पर अपने वर्गयुद्ध के सिद्धांत की रक्त की छाप लगा दी। डारविन ने जहाँ, पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में, अपने 'सरवाइवल ऑव् दी फिटेस्ट' के सिद्धान्त को (जिसकी तुलना में ईसा की सांस्कृतिक चेतना की द्योतक 'ब्लेसेड आर द मीक फार दे शेल इनहेरिट द अर्थ' आदि सूक्तियाँ रखी जा सकती हैं) जीव-विकास क्रम पर प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया, वहाँ मार्क्स ने, यंत्र-युग के आर्थिक चक्रों से जर्जर, सर्वहारा का पक्ष लेकर वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को द्वन्द्व-तर्क से परिचालित, ऐतिहासिक विकास-क्रम में, ( युग-संकट के समाधान रूप में )। हीगल और मार्क्स दोनों ही अपने युग के बहुत बड़े मनस्वी हुए हैं; किन्तु इनकी मनःशक्ति ही इनकी सीमाएं भी बन गई।

मैं मार्क्सवादी ( आर्थिक दृष्टि से वर्ग-संतुलित ) जनतंत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श-संयोग मानता हूँ, जैसा कि मैं अपनी रचनाओं में भी संकेत कर चुका हूँ—

'अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण
उसे प्रतिष्ठित करने जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान !' 'युगवाणी'
'पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व तन्त्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित !' 'स्वर्णकिरण'

इत्यादि ।

ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानंद के सार-गर्भित कथन, "मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ" की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी समाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व-संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है, और वर्गहीनता का अर्थ केवल अंतरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवता को वर्गहीन बनने के लिए समतल प्रसारगामी के साथ उर्ध्व विकासकामी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युग की एकांत आवश्यकता है।

हमारे युग का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है अंतःसंश्लेषण तथा बहिःसंनिधान की कमी। हमारा युग-मानव अभी अपने आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक सचय को परस्पर संयोजित नहीं कर पाया है। उसका मन बाह्य विश्लेषण से आक्रान्त तथा अंतः संश्लेषण से रिक्त है। इसमें संदेह नहीं कि धीरे-धीरे मानव-चेतना विश्व-क्रांति की बहुमुखी गुरुता से परिचित होकर विश्व सांस्कृतिक संगठन अथवा विश्व सांस्कृतिक-द्वार की ओर अग्रसर हो सकेगी, जिसमें इस युग का समस्त भौतिक मानसिक वैभव संगृहीत एवं समन्वित हो सकेगा। किन्तु किपलिंग के कुछ आधुनिक भारतीय संस्करण (यद्यपि किपलिंग के दृष्टिकोण के बारे में यह केवल लोकमत-मात्र है) भौतिकता (पश्चिम का राजनीतिक आर्थिक जीवन संबंधी संघर्ष तथा वर्गहीन लोकतंत्र) तथा आध्यात्मिकता (पूर्व के अंतर्जीवन

संघर्ष-संबंधी अनुभूतियाँ तथा अंतर्मुख मनोयंत्र) का समन्वय असंभव मानते हैं, जबकि आध्यात्मिकता प्रारंभ से ही 'पद्भ्यां पृथिवी' घोषित करती आई है।

पूर्व-पश्चिम की सभ्यताओं की जीवन-अनुभूतियों को, जिन्हें ऐतिहासिक विकास के लिए मानव अदृष्ट ( भावी ) का भौगोलिक वितरण कहना अनुचित न होगा, निकट भविष्य में विश्व-संतुलन तथा बहिरंतर संगठित भू-चेतना एवं भू-मन के रूप में संयोजित होना ही होगा। पश्चिम को पूर्व, विशेषकर भारत, जो अंतर्मन तथा अंतर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है,—मानव तथा विश्व के अंतर्विधान में ( काल में ) अंतर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक्-प्रसारित बहिर्विधान का वैभव सौष्ठव प्रदान करेगा। आनेवाली सांस्कृतिक चेतना का स्वर्गोनन्त सेतु पूर्व तथा पश्चिम के संयुक्त छोरों पर झूलकर धरती के जीवन एवं विश्व-मन को एक तथा अखंड बना देगा। तब दोनों के, आज की दृष्टि से, विरोधी अस्तित्व नवीन मानव-चेतना के ज्वार में डूब जाएंगे और विश्व-मानवता एक ही सिन्धु की अगणित लहरों की तरह भू-जीवन की आरपार-व्यापी सौन्दर्य-गरिमा वहन कर सकेगी।

आज के संक्रांति-काल में मैं साहित्य-स्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव-हृदय के मंच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अंतःक्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत में झंकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धांतिकता के मृगजल-मरु में भटकती हुई अंतःशून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अंतर्जगत् तथा अंतर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके; एवं इस युग के वादों की संकीर्ण भित्तियों में बंदी युग-युग से निश्चेष्ट निष्क्रिय मानव-हृदय में, जिसकी प्रत्येक श्वास में घृणा-द्वेष के विष का संचार हो रहा है, उसका स्वाभाविक प्रेम का स्पंदन तथा देवत्व का संगीत जाग्रत कर सके,—विशेष कर जब इस युग में मानव-हृदय इतना क्षुधित, चेतना-शून्य तथा, विकसित न हो सकने के कारण, निर्मम हो गया है कि दो विश्व-युद्धों के हाहाकार के बाद भी आज मनुष्य

तीसरे विश्वव्यापी अणु-संहार के लिए उद्यत प्रतीत होता है। कवि की विश्व-प्रीति एवं मानव-प्रेम की वंशी को आत्मकुंठा के प्रतीकार के लिए, व्यक्तिगत घृणा-द्वेष तथा जनोद्धार के आवरण में अनीति के प्रचार के लिए, लोकहितैषिता के छद्मवेश में शक्ति-लालसा तथा पद-अधिकार के लिए एवं वाद-पीड़ित बौद्धिक दुराग्रह से उत्तेजित विश्वव्यापी लोक-संहार के लिए तोपों के अनुर्वर कृत्रिम गर्जन में बदलने का दुःप्रयास करना मुझे सृजन-प्राण साहित्यजीवी का कर्तव्य नहीं जान पड़ता। सौन्दर्यस्रष्टा एवं जीवनद्रष्टा चाहे वाल्मीकि हों या गोर्की, वह सेना-नायक या सैन्य-वाहक नहीं होता, वह संदेश या युग-संकेत वाहक ही होता है। वह भावात्मक चेतना का ही सृजन गंभीर शंख-घोष करता है।

मैं केवल इस युग के मान्यताओं संबंधी संघर्ष एवं युगक्रांति के भीतरी पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहा हूँ जो मानव-चेतना के नवीन सांस्कृतिक आरोहण का सूचक है। इस दृष्टि से इस युग के समस्त वाद-विवाद नवीन लोक-चेतना के स्फुलिंग एवं अंश सत्य-मात्र हैं। मानव के इस विकासोन्मुख व्यक्तित्व को, निकट भविष्य में, जीवन, जो सबसे बड़ा स्रष्टा तथा कलाकार है, अपने रहस्य-स्पर्शों से सँवार कर नवीन मानवता की सजीव शोभा में मूर्तिमान् कर देगा। बुद्ध, मसीहा तथा मोहम्मद जिस स्वर्ग के राज्य को पृथ्वी पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, उस स्वप्न को हमारा विद्युत् तथा अणु का युग वास्तविकता प्रदान कर सकेगा और धीरे-धीरे हम आज के युग-संघर्ष के व्यापक स्वरूप को समझ सकेंगे एवं आज के वर्गयुद्ध के रूप में हमें जिस युग-संचरण का पूर्वाभास मिलता है, उसके भीतर निहित मनुष्य की अंतश्चेतना का प्रयोजन हमारे युग-मन में अधिक स्पष्ट हो जाएगा और इसमें भी संदेह नहीं कि यह मात्र बाहर का रोटी का युद्ध शीघ्र ही मन के रणक्षेत्र में नवीन मान्यताओं के देवासुर-संघर्ष का रूप धारण कर, एवं मानव-चेतना तथा अस्तित्व के अंतरतम स्तरों को आंदोलित कर, मानव-हृदय को स्वर्ग-शोणित से स्नानपूत तथा नवीन चेतना के सौन्दर्य और मानवता की गरिमा से मंडित कर देगा। अस्तु—

'स्वर्णकिरण' में मैंने अंतर्जीवन अंतश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्त्व इसलिए भी दिया है कि इस युग में भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिलकुल

ही भूल गए हैं। वैसे सामान्यतः उसमें बहिरंतर जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता दी गई है। जैसा कि—'भौतिक वैभव औ' आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित! 'बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय', 'बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित''—आदि अनेक पंक्तियों में अनेक रूप से मिलेगा। युग्म-चेतना-संबंधी मान्यताओं पर भी मैंने 'स्वर्णकिरण' के अंतर्गत 'स्वर्णोदय' के अंतिम भाग में तथा 'स्वर्णधूलि' की 'मानसी' में विशेष रूप से प्रकाश डाला है, जिससे पाठकों पर मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाएगा।

'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' में मैंने यत्र-तत्र छंदों की सम-विषम गति की एक स्वरता को बदलने की दिशा में भी कुछ प्रयोग किए हैं। जिससे ह्रस्व दीर्घ मात्रिक छंदों की गति में अधिक वैचित्र्य तथा शक्ति आ जाती है। यथा—

'सुवर्ण किरणों का झरता निर्झर' में 'सुवर्ण' के स्थान पर 'स्वर्णिम' कर देने से गति में संगति तो आ जाती, पर सुवर्ण किरणों का प्रकाश मंद पड़ जाता। इसी प्रकार 'जल से भी कटोर धरती में' 'कठोर' के स्थान पर 'निष्ठुर' हो सकता था, 'मेरे ही असंख्य लोचन' के बदले...अगणित लोचन, 'मानव भविष्य हो शासित' के बदले...भावी हो शासित, 'दैन्यों में विदीर्ण मानव' के स्थान पर...विक्षत अथवा खंडित मानव' हो सकता था,—और ऐसे ही अनेक उदाहरण दुहराए जा सकते हैं; किन्तु मैंने सम विषम गति से शब्द-शक्ति को ही अधिक महत्त्व देना उचित समझा है। इस युग में जब हम ह्रस्व दीर्घ मात्रिक के पास से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छंद लिखने में अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि में, ह्रस्व दीर्घ मात्रिक में यति को मानते हुए सम-विषम की गति में इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक में स्वरपात का सौन्दर्य आ जाता है। इन रचनाओं में मैंने ह्रस्व अंत्यानुप्रासों का अधिक प्रयोग किया है,—यथा कोमल, लोचन, सुरभित इत्यादि। ह्रस्व मात्रिक तुक अधिक सूक्ष्म होने से एक प्रकार से छंद प्रवाह में घुल-मिल कर खो जाते हैं। गीतों को छोड़ कर निबंध एवं इतर काव्य में मैंने इस प्रकार के सूक्ष्म या नम्र अंत्यप्रास से ही अधिक काम लिया है,—गीतों में ह्रस्व-दीर्घ दोनों प्रकार के तुकों से।

'उत्तरा' में मेरी इधर की कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युगजीवन-संबंधी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-श्रृंगार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थना गीत संगृहीत हैं। 'उत्तरा' की भाषा 'स्वर्णकिरण' की भाषा से अधिक सरल है; उसके छंदों में मैंने उपर्युक्त विचारों तथा प्रेरणाओं को वाणी देने का प्रयत्न किया है, जो मेरी भावना के भी अंग हैं। 'धनिक श्रमिक मृत'—आदि प्रयोग मैंने व्यक्तियों या संगठनों के लिए नहीं, युग-प्रतीकों अथवा परिस्थितियों के विभाजनों के लिए ही किए हैं, जो सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी दृष्टियों से वांछनीय है।

अंत में मैं अपने स्नेही पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे मेरी रचनाओं को इसी सांस्कृतिक चेतना की अस्पष्ट मर्मर के रूप में ग्रहण करें और 'युग विषाद का भार वहन कर तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण' जैसी भावनाओं को, 'आओ प्रभु के द्वार!' की तरह, जन-विरोधी न समझ लें। ऐसी पुकारों में व्यक्ति के निजत्व का समावेश अवश्य रहता है, पर ऐसी किसी भी सामाजिकता की कल्पना मैं नहीं कर सकता, जिसमें व्यक्ति के हृदय का स्पंदन रुक जाय और न शायद दूसरे ही करते होंगे।

मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रांति का भी पक्षपाती हूँ, जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खड़े हैं, जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौंदर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत चैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। और यदि वह संभव न हो सका तो क्रांति का परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकंप, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है?

'कौन रोक सकता उद्धत भयंकर,
सत्यों की परवशता, मिटने कटमर!'

अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठकों को युग-शिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-संबंधी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ

मिलेंगी। अपनी श्लक्ष्ण कल्पना वाणी-द्वारा जन-युग के इस हाहारव से मैंने मनीषियों तथा साहित्य-प्रेमियों का ध्यान मानव-चेतना के भीतर सृजन शक्तियों की इन सूक्ष्म क्रीड़ाओं की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है जिससे हम आज की जाति पाँति वर्गों में विकीर्ण तथा आर्थिक राजनीतिक आंदोलनों से कंपित धरती को उन्नत मनुष्यत्व में बाँध कर विश्व-मंदिर या भू स्वर्ग के प्रांगण में समवेत कर सकें। मेरे गीतों का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। वे मनुष्य के अंतर्जगत् तथा भविष्य की अस्पष्ट झाँकियाँ भर हैं और नवीन मानव चेतना के सिन्धु में मेरी वाणी के स्वप्न अवगाहन अथवा स्वप्न निमज्जन मात्र।

इस भूमिका के रूप में मैंने अपने विचारों को उनके महत्त्व के प्रति किसी प्रकार के मोह के कारण नहीं दिया है,—केवल पाठकों की सुविधा के लिए अपनी इधर की रचनाओं की पृष्ठभूमि का एक रेखा-चित्र भर खींच दिया है। अपनी त्रुटियों के लिए मैं उनसे विनम्रतापूर्वक क्षमा याचना करता हूँ।

*(जनवरी १९४९)* *[उत्तरा से—*



# द्वितीय खंड

# मेरा रचना काल

मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिए पहिले आप मेरे साथ हिमाल की प्यारी तलहटी में चलिये। आपने अल्मोड़े का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि कौसानी में पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृंगार-गृह है, जहाँ कूर्मांचल की पर्वत-श्री एकांत में बैठ कर अपना पल-पल परिवर्तित वेश सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कंठ अभी तक फूटा नहीं था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई, चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोंपलों में मर्मर ध्वनि कर मेरे भीतर अपनी सुंदरता की रंगीन सुगंधित तहें जमा चुका था। 'मधुबाला की मृदुबोली-सी' अपनी उस हृदय की गुंजार को मैंने अपने 'वीणा' नामक संग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार!' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारोंओर अपने नीरव सौंदर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इंद्र-धनुष मेरे कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश-चुंबी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान संदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनंद, सौंदर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह

प्रतिष्ठित हो चुका था। मैं छुटपन से जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत,' 'शकुंतला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था जो मेरे मन में भरे हुए अवाक् सौंदर्य को जैसे वाणी की झंकारों में झनझना उठने के लिए अज्ञात रूपसे प्रेरणा देता था। मेरे बड़े भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ी बोली में, और पहाड़ी में भी, प्रायः कविता लिखते थे। मेरे मन में तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारंभिक प्रयास भी शुरू हो गये थे जिन्हें मुझे किसी को दिखाने का साहस नहीं होता था। तब मैं दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद मैं अल्मोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने चला गया। अल्मोड़ा में उन दिनों जैसे हिंदी की बाढ़ आ गयी थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवकों के साथ मैं भी उस बाढ़ में बह गया। पंद्रह-सोलह साल की उम्र में मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारंभ कर दिया था। मैं तब आठवीं कक्षा में था। हिंदी साहित्य में तब जो कुछ भी सुलभ था उसे मैं बड़े चाव से पढ़ता था। मध्ययुग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग' आदि रचनाओं से प्रभावित होकर मैं हिंदी के प्रचलित छंदों की साधना में तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों में, 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक में तथा मासिक-पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुए थे। इन तीन वर्षों की रचनाओं को मैं प्रयोगकाल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १९१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। वीणा-काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इंद्रधनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-संध्या, कलरव, मर्मर और कलकल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

—इत्यादि सरल भावनाओं को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बालप्रकृति के गले में बाँहें डाले प्राकृतिक सौंदर्य के छायापथ में विहार कर रही है।

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ
सजा हृदय की थाली में,
क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"

इन पंक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौंदर्य-ज्ञान उस ओसों के हँसमुख वन-सा था जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नों से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नहीं प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुन्दर मधुर प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन एवं परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को संबोधन करके लिखे गये हैं।

"माँ, मेरे जीवन हार
तेरा उज्वल हृदय हार हो अश्रुकणों का यह उपहार"

—आदि रचनाओं में प्रकृति-प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैंने अपने मन के इन्हीं उच्छ्वासों एवं उद्‌गारों को भरकर स्वर साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। श्रीमती नायडू और कवि ठाकुर की अँग्रेजी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौंदर्य और रुचि की

प्रतिष्ठित हो चुका था। मैं छुटपन से जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत,' 'शकुंतला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था जो मेरे मन में भरे हुए अवाक् सौंदर्य को जैसे वाणी की झंकारों में झनझना उठने के लिए अज्ञात रूपसे प्रेरणा देता था। मेरे बड़े भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ी बोली में, और पहाड़ी में भी, प्रायः कविता लिखते थे। मेरे मन में तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारंभिक प्रयास भी शुरू हो गये थे जिन्हें मुझे किसी को दिखाने का साहस नहीं होता था। तब मैं दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद मैं अल्मोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने चला गया। अल्मोड़ा में उन दिनों जैसे हिंदी की बाढ़ आ गयी थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवकों के साथ मैं भी उस बाढ़ में बह गया। पंद्रह-सोलह साल की उम्र में मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारंभ कर दिया था। मैं तब आठवीं कक्षा में था। हिंदी साहित्य में तब जो कुछ भी सुलभ था उसे मैं बड़े चाव से पढ़ता था। मध्ययुग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग' आदि रचनाओं से प्रभावित होकर मैं हिंदी के प्रचलित छंदों की साधना में तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों में, 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक में तथा मासिक-पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुए थे। इन तीन वर्षों की रचनाओं को मैं प्रयोगकाल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १९१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। वीणा-काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इंद्रधनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-संध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

—इत्यादि सरल भावनाओं को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बालप्रकृति के गले में बाँहें डाले प्राकृतिक सौंदर्य के छायापथ में विहार कर रही है।

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ
सजा हृदय की थाली में,
क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"

इन पंक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौंदर्य-ज्ञान उस ओसों के हँसमुख वन-सा था जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नों से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नहीं प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुन्दर मधुर प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन एवं परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को संबोधन करके लिखे गये हैं।

"माँ, मेरे जीवन हार
तेरा उज्वल हृदय हार हो अश्रुकणों का यह उपहार"

—आदि रचनाओं में प्रकृति-प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैंने अपने मन के इन्हीं उच्छ्वासों एवं उद्गारों को भरकर स्वर साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। श्रीमती नायडू और कवि ठाकुर की अँग्रेजी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौंदर्य और रुचि की

अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी। यह सन् १६१६ की बात है, मैं तब बनारस में था। मैंने रवीन्द्र-साहित्य बँगला में भी पढ़ना शुरू कर दिया था। 'रघुवंश' के कुछ सर्ग भी देख चुका था। 'रघुवंश' के उस विशाल स्फटिक प्रासाद के झरोखों और लोचन-कुवलयित गवाक्षों से मुझे रघु के वंशजों के वर्णन के रूप में कालिदास की उदात्त कल्पना की सुन्दर झाँकी मिलने लगी थी। मैं तब भावना के सूत्र में शब्दों की गुरियों को अधिक कुशलता से पिरोना सीख रहा था। इन्हीं दिनों मैंने 'ग्रंथि' नामक वियोगांत खंड-काव्य लिखा था। 'ग्रंथि' के कथानक को दुःखान्त बनाने की प्रेरणा देकर जैसे विधाता ने उस युवावस्था के प्रारंभ में ही मेरे जीवन के बारे में भविष्य-वाणी कर दी थी।

'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारंभ कर दिया था। १६१६ की जुलाई में मैं कालेज पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-संबंधी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अँग्रेजी कवियों से मैंने बहुत कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का प्रारंभ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौंदर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल एवं परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि, सुरंगपूर्ण बनकर प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर जीवन के प्रति अधिक संवेदनशील बन गयी है। 'सोने का गान', 'निर्झर गान', 'मधुकरी', निर्झरी', विश्व-वेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओं में वह प्रकृति के रंगजगत में अभिनय करती-सी दिखायी देती है। अब उसे तुहिन-वन में छिपी स्वर्ण-ज्वाल का आभास मिलने लगा है, उषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नहीं छिपाना चाहती कि उसके हृदय में कोमल बाण लग गया है। निर्झरी का अंचल अब आँसुओं से गीला जान पड़ता है, उसकी कल-कल ध्वनि उसे मूक व्यथा का मुखर भुलाव प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलों के कटोरों से मधुपान

करने को व्याकुल है। सरोवर की चंचल लहरी उससे आँखमिचौनी खेल कर उसके व्याकुल हृदय को दिव्यप्रेरणा से आश्वासन देने लगी है। वह उससे कहती है—

"मुग्धा की-सी मृदु मुसकान,
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर महान
दिव्य भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल उर को दे आश्वास !"

सन् १६२१ के असहयोग आंदोलन में मैंने कालेज छोड़ दिया। इन दो-एक वर्षों के साहित्यिक प्रवास में ही मेरे मन ने किसी तरह जान लिया था कि मेरे जीवन का विधाता ने कविता के साथ ही ग्रथिबंधन जोड़ना निश्चय किया है। 'वीणा' में मैंने ठीक ही कहा था—

"प्रेयसि कविते, हे निरुपमिते,
अधरामृत से इन निर्जीवित शब्दों में जीवन लाओ !"

बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं और प्रासादों से लेकर छोटी-छोटी झाड़-फूस की कुटियों से जनाकीर्ण इस जगत में मुझे रहने के लिए मन का एकांत छाया-वन मिला, जिसमें वास्तविक विश्व की हलचल चित्रपट की तरह दृश्य बदलती हुई मेरे जीवन को अज्ञात आवेगों से झकझोरती रही है। इसके बाद का मेरा जीवन अध्ययन-मनन और चिंतन ही में अधिक व्यतीत हुआ। १६२१ में मैंने 'उच्छ्वास' नामक प्रेम-काव्य लिखा, और उसके बाद ही 'आँसू' ! मेरे तरुण-हृदय का पहला ही आवेश प्रेम का प्रथम स्पर्श पाकर जैसे उच्छ्वास और आँसू बनकर उड़ गया। उच्छ्वास के सहस्र दृग-सुमन खोले हुए पर्वत की तरह मेरा भविष्य जीवन भी जैसे स्वप्नों और भावनाओं के घने कुहासे से ढँककर अपने ही भीतर छिप गया।

"उड़ गया अचानक लो भूधर
फड़का अपार वारिद के पर
रव शेष रह गये हैं निर्झर,
लो टूट पड़ा भू पर अंबर!
धँस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुआँ जल गया ताल,
यों जलद यान में विचिर विचर, था इंद्र खेलता इन्द्रजाल!"

इसी भूधर की तरह वास्तविकता की ऊँची-ऊँची प्राचीरों से घिरा हुआ यह सामाजिक जगत्, जो मेरे यौवन-सुलभ आशा-आकांक्षाओं से भरे हुए हृदय को, अनंत विचारों, मतांतरों, रूढ़ियों, रीतियों की भूल-भूलैया-सा लगता था, जैसे मेरे आँखों के सामने से ओझल हो गया। यौवन के आवेशों से उठ रहे वाष्पों के ऊपर मेरे हृदय में जैसे एक नवीन अंतरिक्ष उदय होने लगा।

'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं में जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मंथन और बौद्धिक संघर्ष की विशाल दर्पण-सी है जिसमें 'पल्लव' युग का मेरा मानसिक विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिंबित है। इस अनित्य जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचनाकाल से प्रारंभ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल प्रतीक मात्र है। हृदयमंथन का दूसरा मुख आप आगे चलकर 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' काल की रचनाओं में पायेंगे।

मैं प्रारंभ में आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौंदर्य की जुगनुओं से जगमगाती हुई घाटी में घुमाकर धीरे-धीरे कर्म-कोलाहल से भरे संसार की ओर ले आया हूँ। 'परिवर्तन' की अंतिम कुछ पंक्तियों में जैसे इन चालीस वर्षों का इतिहास आ गया है—

"अहे महांबुधि, लहरों के शत लोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर!
तुंग तरंगों से शत युग शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर!"

मेरा जन्म सन् १९०० में हुआ है, और १९४७ में मैं जैसे इस संक्रमण-शील युग के प्रायः अर्द्ध-शताब्दी के उत्थान-पतनों को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतंत्रता के अदम्य संग्राम से आंदोलित रहा : उसके मनो-जगत् को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी जैसे

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण,
हिमताप पीत मधुवात भीत तुम वीतराग जग जड़ पुराचीन!"

का संदेश बखेरती रही है। दुनिया इन वर्षों में दो महायुद्ध देख चुकी है।

"बहा नर शोणित मूसल धार
रुंडमुंडों की कर बौछार,
छेड़ खर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार!—"

'परिवर्तन' की इन पंक्तियों में जैसे इन्हीं वर्षों के इतिहास का दिग्घोष भरा हुआ है। मनुष्य-जाति की चेतना इन वर्षों में कितने ही परिवर्तनों और हाहाकारों से होकर विकसित हो गयी है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बिलों में छेड़े हुए साँपों की तरह फन उठाकर फूत्कार कर रही हैं।

यह सब इस युग में क्यों हुआ? मानव-जाति प्रलय वेग से किस ओर जा रही है? मानव-सभ्यता का क्या होगा? इस भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, देशों, राष्ट्रों के स्वार्थों में खोये हुए धरती के जीवन का भावी निर्माण किस दिशा को होना चाहिए—इन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान मैंने 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका द्वारा करने का प्रयत्न किया है। 'ज्योत्स्ना' में वेदव्रत कहता है : 'जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकांकी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामों से नष्ट हुई उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकांकी प्रकृतिवाद, विकास-

वाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल में डूब गयी। पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर कर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपंजर में भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रंगों को भर कर हमने आने वाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।'

'ज्योत्स्ना' में मैंने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है 'गुंजन' में उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। 'गुंजन' के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से संबद्ध हैं। 'गुंजन' की 'अप्सरी' में 'ज्योत्स्ना' की ही भावना-धारा को व्यक्तित्व दे दिया है। कला की दृष्टि से 'गुंजन' की शैली 'पल्लव' की तरह मांसल, एवं ऐंद्रियक रूप-रंगों से भरी हुई नहीं है; उसकी व्यंजना अधिक सूक्ष्म, मधुर तथा भावप्रवण है। उसमें 'पल्लव' का-सा कल्पना-वैचित्र्य नहीं है पर भावों की सच्चाई और चिंतन की गहराई है।

'गुंजन'-काल के इन अनेक वर्षों के ऊहापोह, संघर्ष और संधि परा-भव के बाद आप मुझे 'युगांत' के कवि के रूप में देखते हैं। 'युगांत' के मरु में मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुँधले पद-चिह्न पड़े हुए हैं। वही चिन्तन के भार से डगमगाते हुए पैर जैसे 'पाँच कहानियों' की पगडंडियों में भी भटक गये हैं।

'युगांत' में मैं निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है। मैंने जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उनका आभास 'ज्योत्स्ना' में पहले ही दे चुका हूँ। अपने मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परि-णामों के आधारों का समन्वय मैंने 'युगवाणी' के युगदर्शन में किया है। युग-दर्शन में मैंने भौतिकवाद या मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का जहाँ समर्थन किया है वहाँ उनका अध्यात्मवाद के साथ समन्वय एवं संश्लेषण भी करने का प्रयत्न किया है। भौतिकवाद के प्रति—जो कि मानव-जीवन की बहिर्गतियों का वैज्ञा-निक निरूपण है—अपने वयोवृद्ध विचारकों में जो विरक्ति अथवा उपेक्षा पायी जाती है उसे मैंने दूर करने का प्रयत्न किया है। अध्यात्म दर्शन के बारे में जो नवशिक्षित युवकों में भ्रांत धारणाएँ फैली हैं उस पर भी प्रकाश डाला है। मैंने 'युगवाणी' में मध्ययुग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खंडन किया है।

'ग्राम्य' को समाप्त करने के बाद आप सन् १९४० में पहुँच गए हैं। इस बीच में हिन्दी साहित्य की सृजनशीलता हिन्दुस्तानी के स्वादहीन आंदोलन से तथा उसके बाद १९४२ के आंदोलन से काफी प्रभावित रही। दोनों आंदोलनों से हिंदी की सृजनशील चेतना को अपने-अपने ढंग का धक्का पहुँचा, और दोनों ने ही उसे पर्याप्त मात्रा में चिन्तन-मनन के लिए सामग्री भी दी। फिर भी इन वर्षों के साहित्यिक इतिहास के मुख पर एक भारी वितृष्णा-भरे विषाद का घूँघट पड़ा रहा। इसके उपरांत सन् १९२९ की तरह मैं अपने मानसिक संघर्ष के कारण प्रायः दो साल तक अस्वस्थ रहा। इधर मेरी नवीन रचनाओं के दो संग्रह 'स्वर्ण-किरण' और स्वर्ण-धूलि' के नामों से प्रकाशित हुए हैं। 'स्वर्ण-किरण' में स्वर्ण का प्रयोग मैंने नवीन चेतना के प्रतीक के रूप में किया है। उसमें मुख्यतः चेतना-प्रधान कविताएँ हैं। स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि में मिल कर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप में अंकुरित हो उठी हो।

'स्वर्ण-किरण' में मैंने, पिछले युगों में जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियों का विभाजन हुआ है उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमें पाठकों को विश्व-जीवन की एवं धरती की चेतना संबंधी समस्याओं का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों एवं युगों की संस्कृतियों को विकसित मानववाद में बाँध कर मैंने भू-जीवन की नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके कुछ पद सुनाकर इस वार्ता को समाप्त करता हूँ।

भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शांति से हों गत संस्कृति धर्म समन्वित!
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खंडित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान-संग्रह भव-पथ का विश्व-क्षेम का करे उन्नयन!

---

# मैं और मेरी कला

जब मैंने पहिले लिखना प्रारम्भ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौंदर्य का वातावरण ही एक ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी ! और किसी भी ऐसी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नहीं जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। मेरे चारों ओर की सामाजिक परिस्थितियाँ तब एक प्रकार से निश्चल तथा निष्क्रिय थीं, उनके चिर परिचित पदार्थ में मेरे किशोर मन के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। फलतः मेरी प्रारंभिक रचनाएँ प्रकृति की ही लीला भूमि में लिखी गई हैं। पर्वत प्रांत की प्रकृति के नित्य नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैंने स्वतः ही जैसे किसी अंतर्विवशता के कारण पक्षियों तथा मधुपों के स्वरों में स्वर मिला कर जिन्हें, तब मैंने विहग बालिका तथा मधुबाला कहके संबोधन किया है, पहिले पहल गुनगुनाना सीखा है।

मेरी प्रारंभिक रचनाएँ 'वीणा' नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धर कर, चपल मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्यपट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरें आदि जैसे मेरे बाल कल्पना के छायावन में मिल कर वाद्य तरंग बजाते रहे हैं।

'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना ?'

अथवा 'आओ सुकुमारि विहग बाले,
निज कोमल कलरव में भरकर, अपने कवि के गीत मनोहर,
फैला आओ वन-वन घर-घर, नाचें तृण तरु पात।'

आदि गीत आपको 'वीणा' में मिलेंगे जिनके भीतर से प्रकृति गाती है।

'उस फैली हरियाली में—कौन अकेली खेल रही
माँ वह अपनी वयबाली में ?

अथवा 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?...आदि

अनेक उस समय की रचनाएँ तब मेरे प्रकृति विहारी होने की साक्षी हैं।

जिस प्रकार प्रकृति ने मेरे किशोर हृदय को अपने सौन्दर्य से मोहित किया है उसी प्रकार पर्वत प्रदेश की निर्वाक् अलंघ्य गरिमा तथा हिमराशि की स्वच्छ शुभ्र चेतना ने मेरे मन को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर उसमें अपनी रहस्यमय मौन संगीत की स्वरलिपि भी अंकित की है। पर्वत श्रेणियों का वह नीरव संदेश मेरी प्रारंभिक रचनाओं में विराट् भावनाओं अथवा उदात्त स्वरों में अवश्य नहीं अभिव्यक्त हो सका है, किंतु मेरे रूप-चित्रों के भीतर से एक प्रकार का अरूप सौन्दर्य यत्र-तत्र अवश्य छलकता रहा है, और मेरी किशोर दृष्टि को चमत्कृत करने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य में एक गंभीर अवर्णनीय पवित्रता की भावना का भी अपने आप ही समावेश हो गया है।

'अब न अगोचर रहो सुजान,
निशानाथ के प्रियवर सहचर अंधकार स्वप्नों के यान,
तुम किसके पद की छाया हो किसका करते हो अभिमान?

अथवा 'तुहिन बिंदु बनकर सुंदर, कुमुद किरण से उतर-उतर,
मा, तेरे प्रिय पद पद्मों में, अर्पण जीवन को कर दूँ।
इस ऊषा की लाली में !'

आदि पंक्तियों में पर्वत प्रदेश के रहस्यमय अंधकार की गम्भीरता और वहाँ के प्रभात की पावनता तथा निर्मलता एक अंतर्वातावरण की तरह अथवा सूक्ष्माकाश की तरह व्याप्त है। 'वीणा' की रचनाओं में मेरे अध्ययन अथवा ज्ञान की कमी को जैसे प्रकृति ने अपने रहस्य संकेत तथा प्रेरणा बोध से पूरा कर दिया है। उनके भीतर से एक प्राकृतिक जगत् का टहटहापन, सहज उल्लास तथा अनिर्वचनीय पवित्रता फूट कर स्वतः काव्य का उपकरण अथवा उपादान बन गई है।

'वीणा' के बाद की रचनाएँ मेरे 'पल्लव' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। 'पल्लव' काल में मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है। 'पल्लव' की रूप रेखाओं में प्राकृतिक सौंदर्य तथा उसकी रंगीनी तो वर्तमान है; किंतु केवल प्रभावों के रूप में,—उससे वह सान्निध्य का संदेश लुप्त हो जाता है।

'कहाँ है सुंदर विहग कुमारि, कहाँ से आया यह प्रिय गान ?'
अथवा
सिखा दो ना हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।

आदि 'पल्लव' काल की रचनाओं में विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान हैं, उनके प्रति हृदय की ममता भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृतिचिन्ह तथा भावना के प्रतीक भर रह गए हैं। उनके शब्दों में कला का सौंदर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं। प्रकृति के उपकरण रागवृत्ति के स्वर बन गए हैं, वे अकलुप ऐन्द्रयिक मुग्धता के वाहन अथवा वाहक नहीं रह गए हैं। 'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौंदर्य का सहवास पल्लव की रचनाओं में भावना के सौंदर्य की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत हो गई है। 'वीणा' की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है वह 'पल्लव' में कला संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गई है। बाहर का रहस्यमय पर्वत प्रदेश आँखों के सामने से ओझल हो जाने के कारण एक भीतरी रहस्यमय प्रदेश मन की आँखों को विस्मित करने लगा है। अब भी 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' वाला पर्वत का दृश्य सामने आता है पर उसके साथ 'सरल शैशव की सुखद स्मृति सी' एक बालिका भी मनोरम मित्र बन कर पास ही खड़ी दिखाई देती है। बाल कल्पना की तरह अनेक रूप धरने वाले उड़ते बादलों में हृदय का उच्छ्वास और तुहिन बिन्दु सी चंचल जल की बूँदों में आँसुओं की धारा मिल गई है। प्रकृति का प्रांगण छायाप्रकाश की वीथी बन गया है, उसके भीतर से हृदय की भावना अनेक रूप धारण कर विचरण करती हुई दिखाई पड़ती है। उपलों पर बहुरंगी लास तथा भंगिमय भृकुटि-विलास दिखाने वाली निश्छल निर्झरी अब सजल आँसुओं की अंचल-सी प्रतीत होती है। निश्चय ही 'पल्लव' की काव्य भूमिका से 'वीणा' काल का पवित्र प्राकृतिक सौंदर्य 'उड़ गया अचानक

लो भूधर, फड़का अपार वारिद के पर' के सदृश ही विलीन हो जाता है, और उसके स्थान पर 'रवशेष रह गए हैं निर्झर' शेष रह जाते हैं। उस पवित्रता का स्पर्श पाने के लिए हृदय जैसे छटपटा कर प्रार्थना करने लगता है—

'विहग बालिका का सा मृदु स्वर, अर्ध खिले वे कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहलता मनकी, वह मेरी आनन्द उमंग।
'अहो दयामय, फिर लौटा दो मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों सी वह लीला, निर्विकार भावना लता?'

'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग में लिखी गई हैं, १६२१ के असहयोग आंदोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियों ने भी जैसे हिलना-डुलना सीखा। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। उनके स्पंदन कंपन तथा जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-रेखाएँ मन को आकर्षित करने लगीं। मेरे मन के भीतर वे संस्कार धीरे-धीरे संचित तो होने लगे पर 'पल्लव' की रचनाओं में वे मुखरित नहीं हो सके। न उसके स्वर उस नवीन भावना को वाणी देने के लिए पर्याप्त तथा उपयुक्त ही प्रतीत हुए। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावाद की अभिव्यंजना की सीमाएँ थीं। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रांत उस भावना की पुकार थी जो बाहर की ओर राह न पाकर 'भीतर' की ओर स्वप्न-सोपानों पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही काल्पनिक उड़ान द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की सर्वोत्तम तथा प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असंतोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुंजन' काल की रचनाओं में नित्य सत्य पर जैसे मेरा दृढ़ विश्वास प्रतिष्ठित हो गया है।

'सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर-सुन्दर जग जीवन'। आदि

रचनाओं में मेरा मन परिवर्तनशील अनित्य वास्तविकता से ऊपर उठ कर नित्य सत्य की विजय के गीत गाने को लालायित हो उठा है और उसके लिए आवश्यक साधना को भी अपनाने की तैयारी करने लगा है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' भी अनुभव होने लगा है। और वह इस आकांक्षा से व्याकुल भी रहने लगा है। 'ज्योत्स्ना' में मैंने इस नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव' कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे से निखर कर, 'ज्योत्स्ना' का जगत्, जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा, तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगांत' में मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा में भी सक्रिय हो गया है और विकासकामी हृदय क्रांतिवादी भी हो गया है। युगांत की क्रांति की भावना में आवेश है और है एक नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन में पहिले परिवर्तन और फिर क्रांति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में बाहरी क्रांति की आवश्यकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।

'द्रुत झरो जगत के जीर्णपत्र, हे स्रस्तध्वस्त हे शुष्क शीर्ण'

द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है वहाँ 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' में 'पल्लव' काल की स्वप्न चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है। 'गा कोकिल बरसा पावककण! नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन, ध्वंश-भ्रंश जग के जड़ बंधन' के साथ ही 'हो पल्लवित नवल मानवपन, रच मानव के हित नूतन मन' भी मैंने कहा है। यह क्रांति की भावना जो अब साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है, मेरी 'ताज', 'कलरव', आदि युगांत कालीन रचनाओं में विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सकी है और मानववाद की भावना युगांत की 'मानव' 'मधुस्मृति' आदि रचनाओं में। 'बापू के प्रति' शीर्षक मेरी उस समय की रचना गांधीवाद की ओर झुकाव की द्योतक है, जो 'युगवाणी' में भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के प्रारंभिक समन्वय का रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी'

तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रांति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है।

'भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान, अथवा

'मुझे स्वप्न दो' 'मन के स्वप्न' 'आज बनो तुम फिर नव मानव' 'संस्कृति का प्रश्न' 'सांस्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी उस सांस्कृतिक तथा समन्वयात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'ग्राम्या' मेरी सन् १९४० की रचना है जब प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य में घुटनों के बल चलना सीख रहा था। आज के दिन प्रगतिवाद का एक रूप जिस प्रकार वर्गयुद्ध की भावना के साथ दृढ़ कदम रख कर आगे बढ़ना चाहता है उस दृष्टि से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगतिवाद की तुतलाहट ही कहना पड़ेगा। सन् १९४० के बाद का समय द्वितीय विश्वयुद्ध का वह काल रहा है जिसमें भौतिक विज्ञान तथा मांस पेशियों की संगठित शक्ति ने मानवता के हृदय पर नग्न पैशाचिक नृत्य किया है। सन् ४२ के असहयोग आन्दोलन में भारत को जिस पाशविक अत्याचार तथा नृशंसता का सामना करना पड़ा उससे हिंसात्मक क्रांति के प्रति मेरा समस्त उत्साह अथवा मोह विलीन हो गया। मेरे हृदय में यह बात गंभीर रूप से अंकित हो गई कि नवीन सामाजिक संगठन राजनीतिक आर्थिक आधार पर नहीं सांस्कृतिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्व प्रथम सन् १९४२ में मेरी लोकायन की योजना में और आगे चल कर 'स्वर्णकिरण' 'स्वर्णधूलि' की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। नवीन सांस्कृतिक संगठन की रूप रेखा तथा नवीन मान्यताओं का आधार क्या हो, इस संबंध में मेरे मन में ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय मैं श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन के संपर्क में आगया और मेरी 'ज्योत्स्ना' काल की चेतना एक नवीन युग प्रभात की व्यापक चेतना में प्रस्फुटित होने लगी जिसको मैंने प्रतीकात्मक रूप से स्वर्ण चेतना कहा है। और मेरा विश्वास धीरे-धीरे और भी दृढ़ हो गया कि नवीन सांस्कृतिक आरोहण इसी चेतना के आलोक में संभव हो सकता है जो मनुष्य की वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रम कर उसे एक अधिक ऊर्ध्व, गंभीर तथा व्यापक

धरातल पर उठा देगी। इस प्रकार आनेवाली क्रांति केवल रोटी की क्रांति, समान अधिकारों की क्रांति ही न होकर जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण की क्रांति, मानसिक मान्यताओं की क्रांति तथा सामाजिक अथच नैतिक आदर्शों की भी क्रांति होगी। दूसरे शब्दों में भावी क्रांति राजनीतिक आर्थिक क्रांति तक ही सीमित न रह कर आध्यात्मिक क्रांति भी होगी, क्योंकि वस्तु जगत् के प्रति हमारे ज्ञान का स्तर हमारी आध्यात्मिक धारणा के सूक्ष्म स्तर से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और वर्तमान युग की विशृंखलता को नवीन मानवीय सामंजस्य देने के लिए मनुष्य की अन्न प्राण मन संबंधी चेतनाओं का बहिरंतर रूपांतर होना आवश्यक तथा अवश्यंभावी है जिसे मैंने 'स्वर्णकिरण' में इस प्रकार कहा है :—

'सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशिक्षण !
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण !

भौतिक तथा आध्यात्मिक संचरणों के मध्य समन्वय की मेरी भावना धीरे-धीरे विकसित होकर अधिक वास्तविक होती गई है और आज प्रतिगामी शक्तियों की अराजकता के युग में प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मेरे मन की निष्ठा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है।

# आज की कविता और मैं

आज की कविता में अनेक स्तर और अनेक छायाएँ हैं। वह एक देशीय भी है, विश्वजनीन भी : वैयक्तिक भी है सामाजिक भी : और इन सबके परे वह एक नवीन सत्य, नवीन प्रकाश एवं नवीन मनुष्यत्व की संदेश वाहक भी है, एक ऐसा मनुष्यत्व जिसमें आज के देश और विश्व, व्यक्ति और समाज के बाहरी भीतरी विरोध, नवीन सामंजस्य ग्रहण कर रहे हैं।

जब मैं विश्व साहित्य एवं काव्य पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे लगता है कि उसमें मनुष्य जाति के जीवन का संघर्ष, उसके मन का चिन्तन तथा हृदय का मन्थन, ज्ञात और अज्ञात रूप से सदैव प्रतिफलित होता रहा है। प्रत्येक युग का साहित्यिक अथवा कवि अपने युग की समस्याओं को महत्त्व देता रहा है और उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित होता रहा है। आज का युग भी इसका अपवाद नहीं है। आज का युग अनेक दृष्टियों से कई युगों का युग है। आज मनुष्य जीवन में बहिरंतर क्रान्ति के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। आज वह अपने पिछले संचय को नवीन रूप से सँजोने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढाँचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओं को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर ही भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की एक नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। ऐसे संक्रांति के युग में ध्वंस और निर्माण साथ-साथ चलते हैं। शिव और ब्रह्मा, विष्णु के नवीन रूप को प्रकट करने में सहायक होते हैं। पौराणिक शब्दों में आज का युग कलियुग और सत्युग का संधिस्थल है। ऐसे युग में साहित्यिक या कवि का उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, और कौन साहित्यिक उसे निभाने में कहाँ तक सफल हो पाता है, इस पर निर्णय केवल इतिहास का आने वाला चरण ही दे सकता है जब कि वर्तमान की समस्याएँ अपना समाधान प्राप्त कर नवीन व्यक्तित्व धारण कर चुकेंगी। अतएव प्रस्तुत

वार्ता में आज की कविताओं के संबंध में ही अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करूँगा और अपने संबंध में निर्णय देने का अधिकार आने वाले आलोचकों पर छोड़ कर संतोष करूँगा।

सन् १६०० में मेरे जन्म के साथ ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ जो हिन्दी अथवा खड़ी बोली की पहिली प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका थी। देश के उदयाचल पर जागरण के चिह्न प्रकट हो चुके थे और खड़ी बोली उसी जागरण की सशक्त वाणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। मेरे काव्य जीवन के प्रारंभ होने से २-३ वर्ष पहिले ही श्री गुप्त जी की 'भारत भारती' प्रकाशित हो चुकी थी। यद्यपि उसमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा अनुभूत तथा स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रचारित सर्वधर्म समन्वय की भावना तथा अध्यात्म का व्यापक प्रकाश नहीं था जिसने विश्व कवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को प्रेरणा दी, किन्तु उसमें उस समय के लोकचिन्तन के स्वर स्पष्ट रूप से गूँज रहे थे, जो इस प्रकार थे :

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी।'

साथ ही उसके भविष्यत् खंड में हमारी कुंभकर्णी नींद में सोई हुई भूमि के लिये उद्बोधन और जागरण की आशा भी थी......

'हतभाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ।
वर शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ॥
अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे, जगकर स्वयं जय बोल के॥

किन्तु द्विवेदी युग के कवियों के काव्य सौष्ठव से हमारे युग को, जिसका श्रीगणेश प्रसाद जी ने होता है......न काव्य के रूप निर्माण के सम्बन्ध में विशेष प्रेरणा मिली, न भावना और दर्शन के सम्बन्ध में। छायावादी कवियों का लक्ष्य हिन्दू जाति के जागरण तक सीमित नहीं रहा, उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण पौराणिक आचार विचारों को अतिक्रम कर नए प्रकाश की खोज करने लगा। उनके रूप विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंग्रेजी के कवियों का

प्रभाव पड़ा, भावना में युग संघर्ष की आशा निराशा का, तथा विचार दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतर कर भूवाद, नव मानववाद तथा जनवाद में परिणत हो गए। द्विवेदी युग के कवियों में आगे चलकर श्री गुप्त जी ने छायावाद की चेतना को पौराणिक परिपाटी के भीतर से अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया।

विश्ववाद, सर्वात्मवाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने अधिकतर कवीन्द्र रवीन्द्र से और अंशतः शैली आदि अंग्रेजी कवियों से ग्रहण किया। कवीन्द्र रवीन्द्र का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था। कवीन्द्र विश्व भावना तथा लोकमंगल भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने काव्य में दे सके। जन सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार सरणि का अंग नहीं बन सकी थी। यंत्र युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका साहित्य ओतप्रोत है, किन्तु यंत्रयुग की जनवादी सौन्दर्य भावना का उदय तब नहीं हो सका था, न पूँजीवाद ही उनके आत्म निर्माण-काल में ऐसा बीभत्स रूप धारण कर चुका था। जनवादी भावना के विपरीत उनके साहित्य में यंत्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है जो मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया मात्र है। श्रीकृष्ण-चैतन्य अथवा वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारण कर सर्वात्मवाद बन कर निखरा है। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय नृतत्त्वशास्त्र की दिशा में किया है।

इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई उनके काव्य का पदार्थ भी उसी अनुपात में बदलता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढ़ते गये। सत्य के खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युगपरिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।

प्रसाद जी की कामायनी छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है। उनका आँसू छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि। कामायनी में पूर्वी पश्चिमी विचार दर्शन का उनके युग का समन्वय है। उसमें इड़ा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीज़न या रैशनलिज्म की प्रतीक है। श्रद्धा भारतीय अभीप्सा जनित भावना की। मनु मानव मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, काम निर्वेद आदि प्रवृत्तियों का विकास जैवी विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकास वाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इड़ा श्रद्धा का संघर्ष : श्रद्धा की विजय : भक्ति कर्म ज्ञान का समन्वय : अन्त में समरस आनन्द की व्यापक स्थिति, सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक में विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होंने युग के अनुरूप अद्भुत काव्य सृष्टि की है। अंतर्चेतना की सूक्ष्म देवशक्तियों का प्रवृत्तियों के रूप में मानसीकरण कर उन्हें भेद बुद्धि द्वारा स्थूल जीवन संघर्ष में डाल कर, श्रद्धा की सहायता से पुनः निखार कर तथा उसी के द्वारा कर्म भक्ति ज्ञान के रूप में जीवन, भावना तथा बुद्धि में सामंजस्य स्थापित कर अभेद आनन्दमय सत्य की अवतारणा की है।

'नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन'

की भूमिका पर उठाकर प्रसाद जी ने कामायनी के श्रद्धा प्रासाद को

'समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था'

की आत्मानुभूति के स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्ति का जीवन कामायनी के दर्शन के बिना असफल है। कामायनी के काव्य पदार्थ में प्राचीन ऋषियों का हृदय स्पंदन तथा उनके विचार दर्शन की प्रतिध्वनियाँ

मिलती हैं। और अंतिम सर्गों में विचार दर्शन से ऊपर आध्यात्मिकता का भी समरस प्रकाश मिलता है। प्राचीन तत्त्व द्रष्टाओं की तरह प्रसाद जी ने भी व्यक्ति चेतना अथवा वैयक्तिक संचरण को प्राधान्य देकर सामूहिक एवं लोक कल्याण की समस्या का निदान किया है। किन्तु समूह एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार उन्मुक्त तथा प्रशस्त किया जाय यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सन्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमें अनगढ़, विद्रोह भरे प्रगतिवाद के कवियों में मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन दर्शन भावप्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर धीरे-धीरे वस्तुप्रधान तथा सामाजिक हो गया। किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना ग़लत होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य भावना की प्रतिक्रिया से पीड़ित रहा, उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन-सौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियों तथा मध्य वृत्तिवालों के प्रति विद्वेष तथा विक्षोभ प्रकट करता रहा। नवीन लोकमानवता की गंभीर सशक्त चेतना के जागरण गान के स्थान पर उसमें नंगे भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा। विचार दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल कुछ तात्कालिक परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से, अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य चेतना के सरोवर तट पर राजनीतिक प्रचार का झंडा गाड़े, ऊपर ही ऊपर हाथ पाँव मार कर झागों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड़-मरोड़ कर नव दीक्षितों को दिग्भ्रांत करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारंभिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत् या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल

आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूप रेखा या धारणा निश्चित नहीं बन पाई। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रंगीनी का एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके। छंदों की दृष्टि से संभवतः उन्होंने अपनी अंतर्लय हीन भावनाओं तथा उच्छृंखल उद्गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असंबद्ध, छितरा बिखरा तथा ऊबड़ खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमट कर अत्यन्त संकीर्ण अंधानुयायिता में बदल गयी। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते पड़ते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाए। जागरणवादी कुछेक कवियों ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुंकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमें दिनकर प्रमुख हैं।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य भावना ने एक ओर आत्माभिव्यक्ति की पगडंडी पकड़ी, जो हमारी सड़कों के नए नामों की तरह पीछे स्वतंत्र रूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य धारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क वितर्कों में फँसकर एक किमाकार कुत्सित सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर संगति हीन भावनाओं की लहरियों में मुखरित, उपचेतन अवचेतन की रुद्ध कुंठ ग्रंथियों को मुक्त करती हुई तथा दमित कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक चेतना के स्रोत में नदी

के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्दों का वैचित्र्य उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभंगुर रंग-रलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य भावना केचुओं घोंघों मेढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।

छायावादी छंदों में आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अतः स्वर संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा प्रेरणा शून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रयोगवादी छंदों में सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पंदन कंपन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छंदों में एक करुणा मिश्रित नींद भरी स्वप्न मर्मर है, जो प्रायः आत्मदया में द्रवित होकर प्रणय के आँसुओं तथा उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रीति काव्य सौन्दर्य भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय गीत राग और वासना मूलक।

अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोग-वाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युग चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं। और तीनों ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

इन तीन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता में राष्ट्र भावना से भरी देश प्रेम की झंकारें भी मिलती हैं जो मुख्यतः गांधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। राष्ट्रवादी कवियों में मुख्यतः सियारामशरण जी, माखनलाल जी तथा सोहनलाल द्विवेदी जी हैं। प्रथम दो के स्वरों में तप और संयम है; संस्कृत रुचि, उद्बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना में सांस्कृतिक चेतना की उपेक्षा नहीं है। इनमें अतीत की स्वस्थ परम्पराओं के जागरण के साथ आधुनिक विश्व बंधुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश

आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूप रेखा या धारणा निश्चित नहीं बन पाई। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगति वाद के सफल कवि छायावादी शब्दों को रेशमी रंगीनी का एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके। छंदों की दृष्टि से संभवतः उन्होंने अपनी अंतर्लय हीन भावनाओं तथा उच्छ्ृंखल उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद के रूप में पंक्ति बद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असंबद्ध, छितरा बिखरा तथा ऊबड़ खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमट कर अत्यन्त संकीर्ण अंधानुयायिता में बदल गयी। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते पड़ते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाए। जागरणवादी कुछेक कवियों ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुंकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमें दिनकर प्रमुख है।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य भावना ने एक ओर आत्मा भिव्यक्ति की पगडंडी पकड़ी, जो हमारी सड़कों के नए नामों की तरह पीछे स्वतंत्ररूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य धारा मार्क्सवाद एवं द्वन्दात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क वितर्कों में फँसकर एक किमाकार कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर संगति हीन भावनाओं की लहरियों में मुखरित, उपचेतन अवचेतन की रुद्ध क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई तथा दमित कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक चेतना के स्रोत में नदी

के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्दों का वैचित्र्य उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभंगुर रंग-रलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य भावना केचुओं घोंघों मेंढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी।

छायावादी छंदों में आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अतः स्वर संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा प्रेरणा शून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रयोगवादी छंदों में सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पंदन कंपन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छंदों में एक करुणा मिश्रित नींद भरी स्वप्न मर्मर है, जो प्रायः आत्मदया में द्रवित होकर प्रणय के आँसुओं तथा उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रीति काव्य सौन्दर्य भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय गीत राग और वासना मूलक।

अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोग-वाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युग चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं। और तीनों ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

इन तीन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता में राष्ट्र भावना से भरी देश प्रेम की झंकारें भी मिलती हैं जो मुख्यतः गांधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। राष्ट्रवादी कवियों में मुख्यतः सियारामशरण जी, माखनलाल जी तथा सोहनलाल द्विवेदी जी हैं। प्रथम दो के स्वरों में तप और संयम है; संस्कृत रुचि, उद्बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना में सांस्कृतिक चेतना की उपेक्षा नहीं है। इनमें अतीत की स्वस्थ परम्पराओं के जागरण के साथ आधुनिक विश्व बंधुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश

है। साध्य साधन का सामंजस्य, हृदय परिवर्तन का आग्रह, लोक हित तथा अहिंसात्मक क्रान्ति का निर्देश है; साथ ही आज की समतल विचार धारा की अराजकता में ऊर्ध्व उदात्त संतुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यिकों को विशेष सृजन प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता में आज एक प्रकार का गतिरोध सा दृष्टिगोचर होता है।

देश प्रेम के अतिरिक्त इस युग में मानवीय प्रेम की भावनाओं पर आश्रित स्त्री पुरुष संबंधी रागात्मक कविताएं भी लिखी गयी हैं, जिसके प्रतिनिधि बच्चन हैं। बच्चन ने अपने हालावाद में, प्रेम के प्रतीक को, सूफियों की तरह, यौवन के भावोन्माद के लिबास में लपेटकर प्रस्तुत किया है। उसकी यौवन की प्रेम भावना निशा निमंत्रण, आकुल अंतर तथा एकान्त संगीत में प्रच्छन्न विरह के रूप में उमड़ी है, सतरंगिणी तथा मिलन यामिनी में उन्मुक्त मिलन उल्लास के रूप में। छायावादी अशरीरी प्रेम भावना बच्चन में मानवीय वास्तविकता ग्रहण कर सकी है पर उसमें युगीन परिष्कार का अभाव है। उसके भीतर परम्परागत मध्यवर्गीय प्रेम के हृदय का उच्छ्वसित स्पंदन है, किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्य भावना से मंडित, संस्कृत, मानवीय निखार नहीं। उसमें नवीन सामाजिकता के भीतर स्त्री पुरुष की रागात्मक वृत्ति का नवीन सौन्दर्य में मूर्त, सुघर संतुलित रागोच्छ्वास देखने को नहीं मिलता। बचन का प्रणय निवेदन 'वह पग ध्वनि मेरी पहचानी' से लेकर 'इसीलिये खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' तक रीतिकालीन प्रणय काव्य से पृथक् होने पर भी उर्दू प्रेम काव्य की परम्परा से अनुरंजित एवं प्रभावित है। वह हृदय को स्पर्श न कर इंद्रिय संवेदनों को उकसाता है तथा बहिर्मुखी तृषा पिपासा को तृप्त करता है। स्त्री पुरुष की संज्ञा चेतना को शुभ्र ऊँचाइयों में उठाने अथवा गहन अंतर्लीन करने में सहायक नहीं होता। बच्चन की कविता की भाषा हिन्दी काव्य भाषा की परम्परा से छन कर आई है, वह छायावादी सौन्दर्योन्मेष और कल्पना पंखों की स्वर्णिम उड़ान लेकर नहीं आई। उसमें सूक्ष्म विश्लेषण संश्लेषण की रंगच्छायाएँ नहीं मिलतीं, वह अपने उच्चस्तर पर मुहावरों में बँधी और उक्तियों से भरी होती है। उसकी इधर की प्रणय पत्रिका की रचनाएँ भी...जो विनय पत्रिका का

आधुनिक संस्करण समझी जानी चाहिये...काव्य की दृष्टि से उसी परम्परागत आत्मनिवेदन की कोटि में आती हैं। उदाहरण स्वरूप...'तन के सौ सुख सौ सुविधा में मेरा मन वनवास दिया सा' अथवा 'आज मलार कहीं तुम छेड़े मेरे नयन भरे आते हैं।' इत्यादि।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में इसलिए लिया है कि मूलतः ये तीनों धारायें एक ही युग चेतना अथवा युग सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। उनके रूप विन्यास, भावना सौष्टव में कोई विशेष अंतर नहीं और उनका विचार दर्शन भी धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनों धाराएं एक दूसरे की पूरक हैं। आज के युद्ध जर्जर युग में हम एक नवीन संतुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोकजीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षायें आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अति-रंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही है।

अपने युग की महत् चेतना से, एक छोटे से साहित्य जीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित एवं प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढ़ाव उतार में मेरी भी छोटी सी तुच्छ देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपनी काव्य साधना में मैंने संत कवियों तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद की आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता की अंतश्चेतना को नवीन लोक चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाए हुए अंध विश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मों संस्कृतियों तथा जातियों वर्गों में बँटे हुए

लोगों को अपनी काव्य चेतना के प्रांगण में आमंत्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैंने आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओं का विरोध किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक कल्याण के लिये महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक दूसरे के पूरक की तरह, संयोजित करना चाहा है। युगवाणी से लेकर स्वर्ण किरण तक मैंने जीवन की बहिरंतर मान्यताओं को सामंजस्य के ताने बानों में गूँथकर नवीन मानवता के सांस्कृतिक पट को शब्द ग्रथित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पंदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष में मैंने अपनी युग चेतना को नवीन सौन्दर्य का लिबास पहनाने का प्रयत्न किया है। जिस सब में मुझे अवश्य ही सफलता नहीं मिल सकी है और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्म श्लाघा प्रतीत हो रही है। भविष्य में यदि मैं कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओं तथा स्वप्न संभावनाओं को सापेक्षतः परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका तो मैं अपनी साहित्यिक साधना को सफल समझूँगा।

---

# कला का प्रयोजन

## स्वांतःसुखाय या बहुजनहिताय

हमारे युग का संघर्ष आज केवल राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों ही में प्रतिफलित नहीं हो रहा है, वह साहित्य, कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुका है। यह एक प्रकार से स्वास्थ्यप्रद ही लक्षण है कि हम अपने युग की समस्याओं का केवल बाहरी समाधान ही नहीं खोज रहे हैं, प्रत्युत उनकी भीतरी ग्रंथियों को भी खोलने अथवा सुलझाने का यत्न कर रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में आज बहुजनहिताय का सिद्धान्त प्रायः सभी देशों में निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुका है और अपना देश भी नवीन संविधान के स्वीकृत होने के साथ ही बहुजन-संगठित गणतंत्र के विशाल तोरण में प्रवेश कर चुका है। राजनीतिक क्षेत्र की यह कोटि करपद नवीन चेतना आज हमारे साहित्य, कला तथा संस्कृति में भी युग के अनुरूप परिणति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। फलतः आज साहित्य में इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे मन में उठने लगे हैं कि 'कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए', अथवा कला प्रचार के लिए या आत्माभिव्यक्ति के लिए अथवा कला स्वातःसुखाय या बहुजनहिताय। इस प्रकार के सभी प्रश्नों के मूल में एक ही भावना या प्रेरणा काम कर रही है और वह है व्यक्ति और समाज के बीच बढ़ते हुए विरोध को मिटाना अथवा वैयक्तिक तथा सामाजिक संचरणों के बीच सामंजस्य स्थापित करना। मानव सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की बुद्धि को कभी वैयक्तिक समस्याओं से उलझना पड़ता है, कभी सामाजिक समस्याओं से। मध्य युग में हमारा ध्यान वैयक्तिक मुक्ति की ओर था, तो इस युग में सामाजिक, सामूहिक अथवा लोकमुक्ति की ओर। पिछले युगों में सामंती परिस्थितियों के कारण मानव अहंता का विधान तथा उसके पारस्परिक सामाजिक संबंधों का निर्माण एक

विशेष रूप से संगठित हुआ था। वर्तमान युग में भूत-विज्ञान की शक्तियों के प्रादुर्भाव के कारण मानव सभ्यता का मान-चित्र धीरे-धीरे बदलकर दूसरा ही रूप धारण करने लगा है; और मानव अहंता का विधान भी पिछले युग के विशेष एवं साधारण अधिकारों के सामंजस्य अथवा बंधन को तोड़कर अपने विचारों तथा आचार-व्यवहारों में आज नवीन रूप से समान अधिकारों का सामंजस्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप इस संक्रांति एवं परिवर्तन काल में, हमारे जीवन के रहन-सहन की बाहरी प्रणालियों के साथ ही, हमारे मनोजीवनके अंतर्नियमों, विचारों तथा आस्थाओं में भी, विरोधी शक्तियों के संघर्ष के रूप में, प्रकारांतर उपस्थित हो रहा है। कार्ल मार्क्स को जिस प्रकार पूँजीवादी पद्धति में एक मूलगत अंतर्विरोध दिखलाई दिया था, उसी प्रकार इस युग के समीक्षकों को भी आज मानव-चेतना के सभी स्तरों में अंतर्विरोध के चिह्न दिखाई दे रहे हैं और चाहे वस्तुवादी दृष्टिकोण से देखा जाय अथवा आदर्शवादी विचारों के कोण से, आज मनुष्य के मन तथा जीवन के स्तरों में परस्पर विरोधी शक्तियाँ आधिपत्य जमाये हुई हैं। और हमारी साहित्यिक पुकारें 'कला कला के लिए या जीवन के लिए', अथवा 'कला स्वांतः-सुखाय या बहुजनहिताय' आदि भी हमारे युग के इसी विरोधाभास को हमारे सामने उपस्थित कर उसका समाधान माँग रही हैं। हमारे युग का बहुमुखी जीवन पग-पग पर विरोध खड़े कर जैसे युगमानव की प्रतिभा को चेतावनी दे रहा है और उसे प्रकट रूप से ललकार रहा है कि उठो, जीवन का नाम विरोध है, वह अंधकार और प्रकाश का क्षेत्र है, इन विरोधों को पैरों के नीचे कुचल-कर आगे बढ़ो. विरोध के विष को पीकर निर्विकार चित्त से युग-सामंजस्य का अनुसंधान करो और अपनी चेतना को गंभीर तथा विस्तृत बनाकर इन अनमेल विरोधी तत्वों में संतुलन स्थापित करो। 'विश्वजयी वह आत्मजयी जो!

अस्तु—तुलसीदास जी लिखते हैं, 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा'। हमारा युग रघुनाथ-गाथा तो एकदम भूल ही गया है, वह स्वांतः-सुखाय से भी बुरी तरह उलझ रहा है। प्रश्न यह है कि यदि तुलसीदास जी रघुनाथ-गाथा को स्वांतःसुखाय लिख गये हैं, तो क्या उसने बहुजनहिताय के

अपने कर्तव्य को पूरा नहीं किया ? क्या उनकी कला स्वांतःसुखाय होने पर भी बहुजनहिताय नहीं रही ? यदि रही है, तो हमें स्वांतःसुखाय और बहुजनहिताय में इतना बड़ा विरोध क्यों दिखाई देता है ? असल बात यह है कि हम गंभीरता-पूर्वक न इस युग के स्वांतः के भीतर पैठ सके हैं, न बहुजन के भीतर; नहीं तो हमें इन दोनों में विरोध के बदले एक व्यापक गंभीर साम्य तथा एकता ही दिखाई देती, और हमें यह समझने में देर न लगती कि स्वांतः कहने से हम बहुजन के ही अंतस् या मन की ओर संकेत करते हैं और बहुजन कहने से भी हम व्यक्ति के ही बाह्य अथवा सामाजिक अंतस् की ओर निर्देश कर रहे हैं। एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में स्वांतः और बहुजन में आपस में वही संबंध रहता है जो गुण और राशि में, और एक के बिना दूसरा अधूरा है। इस प्रकार हम देखेंगे कि इस युग की विरोधी विचार-धाराओं द्वारा हम एक प्रकार से मानव की भीतरी-बाहरी परिस्थितियों में संतुलन अथवा सामंजस्य प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वांतः और बहुजन में, व्यक्ति और समाज में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। इसका उत्तर देने से पहले हमें स्वांतः और बहुजन का अभिप्राय समुचित रूप से समझ लेना चाहिए। स्वांतः का अर्थ है मन। 'स्वांतः मानसं मनः' जैसा कि अमरकोष कहता है। अतएव स्वांतः से हमारा अभिप्राय है उन विचारों, भावों, धारणाओं तथा आस्थाओं से जिनसे हमारा अन्तर्जगत अथवा हमारी भीतरी परिस्थितियों का संसार अथवा हमारा अंतर्व्यक्तित्व बना हुआ है। बहुजन से हमारा अभिप्राय है उन बाहरी परिस्थितियों से जो आज अधिक से अधिक लोगों के जीवन का प्रतिनिधित्व कर रही हैं और जिनके पुनर्निर्माण पर असंख्य लोगों के भाग्य का निर्माण निर्भर है। दूसरी दृष्टि से आज की वास्तविकता ही हमारे बहुजन का स्वरूप है। उसका कल का रूप या भविष्य का रूप अभी केवल युग के स्वांतः में अथवा अंतस् में अंतर्हित है। जब हम अंतर्जगत के स्वरूप पर विवेचन करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि हमारे बाह्य जीवन के क्रिया-कलाप का, हमारे ऐन्द्रयिक जीवन की चेष्टाओं-संबंधी अनुभूतियां आदि का निचोड़ अथवा सार ही हमारे

विचारों, धारणाओं, आदर्शों तथा आस्थाओं के रूप में परिणत हो जाता है, अर्थात् बाह्य जीवन का सूक्ष्म रूप ही हमारा अंतर्जीवन है। हमारे बाह्य और अंतर्जगत दो विरोधी तत्व नहीं हैं, बल्कि मानव जीवन के एक ही सत्य के सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप हैं और व्यक्ति तथा विश्व के अंतर्विधान को सामने रखते हुए ये दो समांतर सिद्धान्तों की तरह कहे जा सकते हैं। इस प्रकार हमारा विचारों का दर्शन हमारे जीवन-दर्शन से विभिन्न सत्य नहीं है, बल्कि हमारे जीवन की प्रणालियों, उसके क्रिया-कलापों तथा अनुभूतियों का ही क्रमबद्ध तथा संगठित स्वरूप है। इस दृष्टि से हमारे स्वांतःसुखाय और बहुजनहिताय के सिद्धांतों में कोई मौलिक या अंतर्गत विरोध नहीं है, केवल बाह्य वैषम्य मात्र है।

अब हमें इस बाह्य विषमता के भी कारण समझ लेने चाहिए। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ हमारा युग संक्रांति का युग है। भूत विज्ञान के आविष्कारों के कारण मानव-जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ इस युग में अत्यधिक सक्रिय हो गयी हैं। हमारा राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गहीन तंत्र के रूप में, उनमें नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है और हमारा जीवन-संबंधी मान्यताओं तथा सामाजिक संबंधों का दृष्टिकोण भी युगपत् परिवर्तित हो रहा है। दूसरे शब्दों में आज मनुष्य का बहिरंतर प्रवहमान अवस्था में है। किन्तु बाहरी परिस्थितियों के अनुपात में जन-साधारण की भीतरी परिस्थितियाँ अभी प्रबुद्ध अथवा विकसित नहीं हो सकी हैं। फलतः हमारी वैयक्तिक तथा सामाजिक मान्यताओं के बीच इस युग में एक अस्थायी विरोधाभास पैदा हो गया है और हम युग-जीवन के सत्य को व्यक्ति तथा समाज, स्वांतः तथा बहुजन के रूप में विभक्त कर उनको एक दूसरे के विरोधी मानने लगे हैं। किन्तु धीरे धीरे युग-जीवन के प्रवाह में एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकेगी कि मनुष्य की बाहरी और भीतरी परिस्थितियों में, अथवा मनुष्य के बाह्य और अंतर जगत में एक दूसरे के संबंध में संतुलन पैदा हो जायगा, हमारी स्वांतः-सुखाय और बहुजनहिताय की धारणाएँ एक दूसरे के सन्निकट आकर अविच्छिन्न रूप से परस्पर संयुक्त हो जायँगी और आज के व्यक्ति और समाज का संघर्ष हमारे नवीन युग की पूर्णकाम राम-गाथा में अति मंजुल भाषा निबंध

रचना के रूप में गुंफित होकर नवीन युग का निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व बन जायगा। इस गरिमामय विराट व्यक्तित्व के शिखर पर खड़े तब हम देख सकेंगे कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अंतर और बाह्य, स्वांतः और बहुजन, कला और जीवन, एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।

हमारा मन जिस प्रकार विचारों के सहारे आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मानव-चेतना प्रतीकों के सहारे विकसित होती है। हमारे राम और कृष्ण भी इसी प्रकार के प्रतीक हैं, जिनके व्यक्तित्व में एक युग की संस्कृति मूर्तिमान हो उठी है, जिनके व्यक्तित्व में पिछला युग बहिरंतर सामंजस्य ग्रहण कर सका है, जिनके व्यक्तित्व में युग का वैयक्तिक तथा सामूहिक आदर्श चरितार्थ हो सका है। इस दृष्टि से हमारा युग एक विराट् प्रतीक्षा का युग है। एक दिन इस युग का व्यक्तित्व हमारे भीतर उतर आयेगा और हमारे बाहर-भीतर के सभी विरोध उस व्यक्तित्व की महानता में निमज्जित होकर कृतकार्य हो जाएंगे। और कोई प्रतिभाशाली तुलसी, महात्मा गाँधी जैसे लोकपुरुष के जीवन में उस व्यक्तित्व को अंकित कर फिर से स्वांतः सुख के लिए नवीन युग की बहुजन-हिताय गाथा गाकर उसे जन मन में वितरित कर सकेगा।

इसी प्रकार अपने युग की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करने तथा मानव-जीवन के अतल अंतस्थल में अधिकाधिक पैठने से हमें ज्ञात हो जायगा कि हमारे वर्तमान, व्यक्ति तथा समाज-संबंधी अथवा अंतर बाह्य-संबंधी, ऊपरी विरोधों के नीचे हमारी चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरों में एक नवीन संतुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है, जो आज के विभिन्न दृष्टिकोणों को एक नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामंजस्य में बांध देगी। जीवन-रहस्य के द्वार खुल जाने पर हमें अनुभव होगा कि जीवन स्वयं एक विराट् कला तथा कलाकार है और एक महान कलाकार के कुशल करों में कला कला के लिए होने पर भी जीवनोपयोगी ही बनी रहेगी और कला जीवन के लिए होते हुए भी कलात्मक अथवा कला के लिए रहेगी। इसी प्रकार कुछ और गंभीरतापूर्वक विचार करने से हमारे भीतर यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि कला द्वारा आत्माभिव्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है। और

लोक-कला की परिणति भी आत्म-प्रकटीकरण अथवा आत्माभिव्यक्ति में हो सकती है। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्य-स्रष्टा तथा कला प्रेमी विद्वान् वस्तुवाद तथा आदर्शवाद को एक ही मानव-जीवन के सत्य की दो बाँहों की तरह मानकर वर्तमान युग के विचारों की इस विशृंखलता को सामंजस्य के व्यापक प्रीति पाश में बाँध सकेंगे। एवमस्तु।

---

# आधुनिक काव्य प्रेरणा के स्रोत

प्रस्तुत वार्ता का विषय है "आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत", जिनसे हमारा अभिप्राय उन मौलिक प्रेरणाओं मान्यताओं एवं उन धारणाओं तथा प्रवृत्तियों से है जो आधुनिक हिन्दी काव्य को जन्म देने में सहायक हुई हैं और जिन्होंने उसके प्रवाह को निर्दिष्ट दिशा की ओर मोड़ा है। प्रत्येक युग अपनी विशेष विचार धारा, विशेष भावनाओं के आधार तथा अपना विशेष दृष्टिकोण लेकर आता है, जो उस युग के साहित्य में प्रतिफलित होता है। साहित्यिक अथवा कलाकार का सूक्ष्म भाव प्रवण हृदय अपने युग की उन विकास तथा प्रगति की शक्तियों को पहचान कर अपनी कला के माध्यम द्वारा उन्हें जन समाज के लिए सुलभ बना देता है।

काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि रसात्मक वाक्य होना अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है। छंदों की झंकृत वेशभूषा, शब्दों तथा अलंकारों का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यंजना, कल्पना की सतरङ्गी उड़ान तथा सौंदर्य-बोध आदि काव्य के बाह्य उपादान मात्र कहे जा सकते हैं। इन सब से अधिक उपयोगी काव्य की वह अंतश्चेतना है जो युग विशेष के हृदय मंथन तथा जीवन संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक दिशा का इंगित देती है जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।

हिन्दी काव्य का आधुनिक युग छायावाद से प्रारम्भ होता है जो द्विवेदी युग तथा प्रयोगवादी युग का मध्यवर्ती काल है और जिसकी एक विशेष धारा ही प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी कविता कही जाती है। छायावाद से पहिले भी हिन्दी काव्य साहित्य में नवीन प्रेरणाएँ काम करने लग गई थीं और एक प्रकार से द्विवेदी युग से भी पहले श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में हिन्दी कविता में नए विषयों का समावेश होने लगा था। श्री भारतेन्दु के भारत-

दुर्दशा नाटक में देशभक्ति की मार्मिक व्यंजना मिलती है। उनकी स्वतंत्र कविताओं में भी यत्र-तत्र देश के अतीत गौरव की महिमा, वर्तमान अधोगति का वेदनापूर्ण चित्रण और भविष्य का उद्बोधन गान पाया जाता है।
देश की वर्तमान दशा से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु कहते हैं।

**हाय, वहै भारत भुव भारी, सब ही विधि सों भई दुखारी।**
**हाय पंचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।**
**तुम में जल नहिं जमुना गंगा, बढ़हु वेगि किन प्रबल तरङ्गा।**
**बोरहु किन झट मथुरा कासी, धोवहु यह कलंक की रासी।**

भारतेन्दु के इस प्रकार के करुण उद्गारों में देशभक्ति के साथ ही एक शक्तिमयी नई अभिव्यंजना भी मिलती है। द्विवेदी युग में भारतीय जागरण के साथ ही देश भक्ति तथा राजनीति से प्रभावित अनेक ओजपूर्ण रचनाएँ लिखी गई। श्री गुप्त जी की 'भारत भारती' ने अपने युग को सबसे अधिक प्रभावित किया। द्विवेदी युग का मुख्य प्रयत्न खड़ी बोली को गद्य पद्य के रूप में मार्जित करने की ओर रहा। उनके युग में हिन्दी भाषा के सौन्दर्य से तो वंचित रही किंतु उसका आधुनिक रूप निश्चित रूप से निखर आया और उसमें एक प्रकार का संयम तथा सुथरापन आ गया।

द्विवेदी युग का काव्य अधिकतर गद्यवत्, इतिवृत्तात्मक तथा अभिधा-प्रधान रहा। किन्तु उसका भावना क्षेत्र भारतेन्दु युग से कहीं अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया उसमें अनेकानेक नवीन विषयों का समावेश होने लगा और उसमें भारतीय पुनर्जागरण की चेतना जन्म लेने लगी। द्विवेदी युग के कवियों में प्रमुख तीन नाम हमारे सामने आते हैं : श्री श्रीधर पाठक, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" और राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण गुप्त। वैसे अन्य भी कई कवि उस युग के साहित्य के इतिहास में चिर स्मरणीय रहेंगे।

श्रीधर पाठक जी का प्रकृति वर्णन उस युग के काव्य में अपना विशेष महत्व रखता है, उनसे पहिले प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त होता रहा। पाठक जी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी तथा उपासक थे। उनके शब्दों का चयन भी अत्यंत मधुर तथा सुथरा होता था। उनकी वाणी में जो एक

प्रसाद था वह स्वयं हिन्दीकाव्य की नवीन चेतना का द्योतक था। उनके प्रकृति वर्णन का एक उदाहरण लीजिए :

बिजन वन प्रांत था, प्रकृति मुख शांत था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।

"प्रसवकाल की लालिमा से लसे बाल शशि" की कल्पना में आधुनिकता की छाप है। उनकी "स्वर्गीय वीणा" की पंक्तियों में ध्वनि संकेत की मधुरिमा देखिए:

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है,
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है,
दया है दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है।
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं बद मस्त गत पै सारे,
समस्त ब्रह्मांड भर को मानो दो उंगलियों पर नचा रही है।

वीणा के सुरीले स्वरों पर गगन के तारों तथा समस्त ब्रह्मांड का तन्मय होकर नाच उठना जिस आनन्दातिरेक की ओर इंगित करता है वह अधिमानस की एकता का परिचायक है। पाठक जी ने श्रांत पथिक तथा ऊजड़ ग्राम के नाम से गोल्डस्मिथ के Traveller तथा Deserted Village के भी काव्यमय अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। कश्मीर सुषमा, उनके प्रकृति प्रेम का रमणीय लीला-कल है, उसमें उनका पदविन्यास अत्यंत कोमल तथा ललित होकर निखरा है। पाठक जी की रचनाओं में समाज सुधार की भी भावना मिलती है, इस नवीन धारा का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में हो चुका था। श्रीधर पाठक वास्तव में एक प्रतिभावान तथा सुरुचि संपन्न कवि थे।

द्विवेदी युग के कवियों में हरिऔध जी का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्हें बोलचाल की भाषा पर भी उतना ही अधिकार था जितना संस्कृत-गर्भित भाषा पर। उनके "प्रियप्रवास" का शब्द संगीत छायावाद के शब्द संगीत के अधिक निकट है :

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।

तरुशिखा पर अस्तमित सूर्य की प्रभा का चित्रण छायावादी अभिव्यंजना है।

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका, राकेन्दु बिम्बानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका, क्रीड़ा कला पुत्तली
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं।

इन चरणों की स्वर झंकृति अधिक मधुर तथा सरल बनकर पीछे छायावाद के संगीत में प्रतिध्वनित हुई। भाव सौन्दर्य की दृष्टि से भी प्रिय प्रवास में श्री राधा का व्यक्तित्व रीति कालीन पंकिलता से मुक्त होकर अधिक स्वच्छ तथा आधुनिक बन गया है।

द्विवेदी युग के कवियों में सबसे अधिक प्राणवान् तथा युगचेतना के प्रतीक स्वरूप महाकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हुए। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं भारतेन्दु युग की स्वदेश प्रेम की भावना गुप्त जी की "भारत भारती" में विकसित राष्ट्रभावना का स्वरूप ग्रहण कर सकी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी के शब्दों में "गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता रही कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निःसंदेह कहे जा सकते हैं। इधर के राजनीतिक आन्दोलनों ने जो स्वरूप धारण किया उसका पूरा आभास गुप्त जी की रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सब की झलक हम उनमें पाते हैं।" गुप्त जी की आधुनिकतम रचनाओं में युग की चेतनात्मक क्रांति तथा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से मुखरित हो उठे हैं। उनकी "झंकार" छायावादी युग की वस्तु है और पृथवी पुत्र प्रगति वादी युग की। गुप्त जी में पुरातन के प्रति सम्मान और नूतन के प्रति उत्साह तथा आग्रह की भावना मिलती है। उनका यह सामंजस्य छायावादी युग के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि का काम करता है। उन्हें प्रबंध काव्य तथा आधुनिक प्रगीत मुक्तकों में

समान रूप से सफलता मिली है। उनके मुक्तकों में छायावादी अभिव्यंजना तथा लाक्षणिक प्रयोगों का वैचित्र्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। उनके प्रबंध काव्य "साकेत" को काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का विरह वर्णन एक नवीनता प्रदान कर देता है। अनसूया उर्मिला आदि काव्य की उपेक्षिताओं की ओर गुप्त जी अपने काव्य संस्कार में बँगला के अध्ययन से प्रभावित हुए हैं। सर्व प्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था।

आगे चलकर हम देखेंगे कि हिन्दी की नवीन काव्यधारा में बंगला कवियों, विशेष कर रवीन्द्रनाथ, का विशेष प्रभाव पड़ा है। वैसे श्री मुकुटधर पान्डेय आदि की रचनाओं में छायावाद की सूक्ष्म भावव्यंजना तथा रंगीन कल्पना धीरे-धीरे प्रकट होने लगी थी जो आगे चलकर प्रसाद जी के युग में पुष्पित पल्लवित होकर, एक नूतन चमत्कार एवं चेतना का संस्कार धारण कर, हिंदी काव्य के प्रांगण में नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी।

प्रसाद जी छायावाद के सर्वप्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके युग में आने तक हिन्दी कविता के अंतर्विधान में भी बँगला का, और विशेषकर कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य का, अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ चुका था। कवीन्द्र रवीन्द्र भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत बनकर आए। उन्होंने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावों का वैभव, नवीन कल्पना का सौन्दर्य, नवीन छंदों की स्वर-झंकृति प्रदान कर उसे विश्व प्रेम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया। कवीन्द्र के युग से जो महान प्रेरणा हिन्दी काव्य साहित्य को मिली वही वास्तव में छायावाद के रूप में विकसित हुई।

कवीन्द्र रवीन्द्र के आगमन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। बँगला में भारतीय पुनर्जागरण का समारम्भ हो चुका था। एक ओर श्री रामकृष्ण परमहंस जी के आविर्भाव तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से आध्यात्मिक जागरण तथा सर्व धर्म समन्वय का प्रकाश फैल चुका था, दूसरी ओर स्वदेशी आंदोलन के रूप में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना जाग्रत हो उठी थी। ब्रह्म समाज के रूप में पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों का समन्वय करने की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट हो चुका था।

रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं भी ब्रह्म समाजी थे। कवीन्द्र महान् प्रतिभा से संपन्न होकर आये थे। उन्होंने अपने युग की समस्त जागरण की शक्तियों का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्यकर सारतत्वों का संग्रह अपने अंतर में कर लिया था। और अनेक छंदों तालों तथा लयों में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढ़िग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातों से जाग्रत्, विमुक्त तथा विमुग्ध कर उसे एक नवीन आकांक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नों में मंडित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यंत्रयुग के सौन्दर्य में वेष्ठित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिये समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था।

इसी काव्यमय आध्यात्मिक आलोक, सौन्दर्य चेतना तथा सृजन कल्पना की मुक्ति को ग्रहण कर हिन्दी में छायावाद ने प्रवेश किया। द्विवेदी-युग की पौराणिक भावना, कला परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण के स्वर छायावाद के युग में एक नवीन विराट् आध्यात्मिक चेतना, नवीन छंद और शैलियों के प्रयोग तथा एक व्यापक विश्वप्रेम की भावना के रूप में परिणत हो गये। प्रसाद जी का झरना जैसे हिन्दी में एक नवीन अभिव्यक्ति का झरना था। उनके "आँसू" के कणों में जैसे छायावादी युग की समस्त मूक करुणा तथा भावनात्मक वेदना एक नवीन अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर उमड़ उठी। प्रसाद जी की "कामायनी" में छायावाद का अंतःस्पर्शी गांभीर्य, सौन्दर्य, तथा विचार सामंजस्य जैसे एक विशाल स्फटिक प्रासाद के रूप में साकार हो उठा। निराला जी ने छायावादी कविता को छंदों के बन्धनों से मुक्त कर उसे एक अधिक व्यापक भूमि पर खड़ा कर दिया। उन्होंने अपनी उज्वल, ओजपूर्ण शैली द्वारा भारतीयदर्शन के आलोक को वितरित किया। 'परिमल' तथा 'गीतिका' में उनके अनेक प्रगीत गीति काव्य की परिपूर्णता प्राप्त कर सके हैं। छायावादी कविता मुख्यतः प्रगीतों का रहस्य इंगितमय सौन्दर्य लेकर प्रस्फुटित हुई। महादेवी जी के प्रगीत इस

दृष्टि से विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं। दूसरी ओर श्री नवीन जी, भारतीय आत्मा तथा दिनकर जी ने राष्ट्रीय भावना को छायावादी परिधान प्रदान कर उसे अधिक सजीव सक्रिय, ओजपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी बना दिया। छायावाद के आकाश में और भी अनेकों नक्षत्र प्रकाश पूर्ण व्यक्तित्व लेकर जगमगा उठे। जिनकी अमर देन से हिन्दी का काव्य साहित्य अनेक रूप से सम्पन्न हुआ।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध के मध्यवर्ती काल में हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रायः सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गई। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा आकांक्षाओं का वैभव, जो विचार सामंजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव चेतना तब युग की बदलती हुई, कठोर वास्तविकता के निकट संपर्क में नहीं आ सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामंजस्य की भावना केवल मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्व धर्म समन्वय, सांस्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक-परलोक सम्बन्धी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी जिससे छायावाद ने प्रेरणा ग्रहण की थी। और अनेक कवि तथा कलाकारों की सृजन कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानों से विरक्त होकर अधिक वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर उतर आई और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य चेतना को जन्म देने में संलग्न हो गई। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोणों को प्रभावित किया उसी प्रकार फ्रायड युंग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषकों ने रागवृत्ति सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण में एक महान क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलतः छायावादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति संदिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचार धाराओं से अधिक या कम मात्रा में प्रभावित होकर अनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुंठित आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने के लिये संक्रान्ति-काल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

किन्तु छायावाद की जो सीमाएँ सूक्ष्म धरातल पर थीं, प्रगतिवादियों की वही सीमाएँ स्थूल धरातल पर हैं। छायावादी कवि अथवा कलाकार वास्तव में आध्यात्मिक चेतना को अनुभूति नहीं प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक अधिदर्शनों, मान्यताओं तथा धारणाओं से प्रभावित हुआ था। इसीलिये वह युग-जीवन की कठोर वास्तविकता से कट कर कुछ दार्शनिक एवं मानसिक विरोधों में सामंजस्य स्थापित कर संतुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा। इसी प्रकार आज के अधिकांश प्रयोगवादी एवं तथाकथित प्रगतिवादी कलाकार पिछले अन्तर्मुख आदर्शों तथा नए बहिर्मुख यथार्थ के बीच प्रतिदिन बढ़ती हुई गहरी खाई में गिर कर तथा सूक्ष्म के प्रति, आदर्श के प्रति, व्यक्ति के प्रति अपना विद्रोह प्रकट कर संक्रान्ति-काल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों तथा सामूहिक सर्व-साधारणता को वाणी देकर संतोष करना चाहते हैं।

---

# यदि मैं कामायनी लिखता

जिस प्रकार ताजमहल के उपकरणों को विच्छिन्न करके फिर उसी सामग्री के दुबारा ताजमहल बनाने की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार कामायनी जैसी एक महान कलाकृति की स्वर संगति को भंग कर फिर से उसका निर्माण करने की सम्भावना मन में नहीं उठती। कामायनी हिमालय सी दुर्लंघ्य न हो पर श्रद्धा और मन की समरस तन्मयता की पावन समाधि ताजमहल सी आश्चर्यजनक अवश्य है। यह अपने युग की सर्वांगपूर्ण कृति न हो पर सर्व श्रेष्ठ कृति निश्चय पूर्वक कही जा सकती है।

पिछले पचास वर्षों में हिन्दी जगत में, भाषा तथा साहित्य सृजन की दृष्टि से, एक महान क्रांति उपस्थित हुई है। इन वर्षों में वृहत् चोटी का निर्माण न हुआ हो किन्तु महान तथा व्यापक परिवर्तन अवश्य हुए हैं। भारतेन्दु का स्नेह संभ्रम पूर्वक स्मरण करते हुए हम सहसा द्विवेदी युग में प्रवेश करते हैं जिसकी सुष्ठु संतुलित व्यवस्था को देख कर मन को सन्तोष तथा प्रसन्नता होती है। कुहासा छँट जाता है: खड़ी बोली निर्भीक रूप के आगे क़दम बढ़ाने लगती है। उसकी गति में एक नपा तुला सौन्दर्य, अंगों में कटा-छँटा सौष्ठव आ जाता है। अनेक गुणी गुंजार करने लगते हैं आम्र की सद्यः मंजरित डाली से पुंस कोकिल माधुर्य ही श्रीवृष्टि करने लगता है: और कहीं नवीन प्रयत्नों की वाटिकाओं में नवीन जागरण का स्पष्ट गुंजरण सुनाई पड़ता है! रीति काल की कलारूढ़ परंपराओं को अतिक्रमण कर साहित्य चेतना सुदूर अतीत के गौरव के मंडित होकर निखर उठती है। पौराणिक सगुण ह्रास युग के रस विलास से ऊब कर खड़ी बोली के माध्यम से नवीन सुगठित कलेवर धारण करने लगता है। भावना में फिर से उदात्त आरोहण परिलक्षित होने लगता है। यत्र-तत्र प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किन्तु सर्वत्र चिरकालीन सांस्कृतिक प्रवाह का करुण क्रंदन तथा देश प्रेम की जाग्रत् भारती का आह्वान वातावरण को ओत-

प्रोत कर देता है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सुमेरु की तरह राष्ट्रकवि गुप्त जी का महान व्यक्तित्व सर्वोपरि शिखर की तरह उठ कर ध्यान आकृष्ट कर लेता है।

द्विवेदी युग के बाद छायावाद के युग का समारंभ होता है। मन की नीरव वीथियों से निकलकर , लाज भरे सौंदर्य में लिपटी, एक नवीन काव्य चेतना युग के निभृत प्रांगण को सहसा स्वप्न मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला संकेतों के अरूप सौंदर्य में तिरोरहित होकर भावना के सूक्ष्म अवगुंठनों के कारण रहस्यमयी प्रतीत होने लगती हैं। प्रभात की अरुणिमा उषा की कनक छाया बन जाती है, दिन प्रतिदिन का प्रकाश स्वप्नदेही ज्योत्स्ना की नवीन मौन मधुरिमा के सामने अनाकर्षक लगने लगता है। अपनी अर्धखिली कलियों के देहपात्र में छायावाद एक नवीन प्रेम तथा सौंदर्य की ज्वाला को लेकर आया जिसके मर्ममधुर स्पर्श से हृदय की शिराएं शीतल वेदना की आकुल शांति में सुलगने लगीं !

इस नवीन युग के प्रवर्तक रहे हैं हमारे चिर परिचित 'श्री जयशंकर प्रसाद ।' रूप से अरूप की ओर आरोहण, सत्य से स्वप्न की ओर आकर्षण, जो एक नवीन रूप तथा नवीन सत्य के आह्वान का सूचक था, सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र की भुवन-मोहिनी हृदयतंत्री में जाग्रत तथा प्रस्फुटित हुआ। वह भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों के अध्यात्म के जागरण का युग था, जिसकी चेतना हिन्दी में खड़ी बोली की ऊबड़-खाबड़ खुरदरी धरती से संघर्ष करती हुई प्रसाद जी के काव्य में अंकुरित हुई। छायावाद केवल स्वप्न सम्मोहन ही बन कर रह जाता, यदि प्रसाद जी उसमें कामायनी जैसे महान काव्य सृष्टि की अवतारणा न कर जाते ! कामायनी को छोड़कर, प्रसाद जी में भी अन्यत्र वह नवीन प्रकाश केवल अभिव्यक्ति की घनीभूत पीड़ा ही बन कर रह गया। हो सकता है कि प्रसादजी में साकेत से जयभारत एवं पृथ्वी पुत्र तक का बृहत् विस्तार न हो पर उनमें कामायनी जैसी महान कृति को जन्म देने की मौलिकता, गंभीरता अथवा उच्चता अवश्य है ! इसमें संदेह नहीं कि कामायनी का कवि अत्यंत महत्वाकांक्षी था, और कामायनी उसका एक अत्यंत महत् प्रयत्न है : वह उसमें कहाँ तक सफल अथवा विफल हुआ, अथवा क्या कामायनी और भी सफल एवं सर्वांगपूर्ण

बनाई जा सकती थी—यह दूसरा प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न कहाँ तक संगत है यह भी विचारणीय है।

आइए, इसी ऊहापोह में हम कामायनी के सुरम्य प्रासाद में प्रवेश करें। कामायनी के आमुख में प्रसाद जी वेदों से लेकर पुराणों और इतिहास में बिखरा हुआ, आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष 'मनु' तथा कामगोत्रजा श्रद्धा और तर्कबुद्धि इड़ा का संक्षिप्त विवरण देते हुए अंत में लिखते हैं : 'मनु श्रद्धा इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' आगे चलकर वे कहते हैं—'कामायनी की कथा-श्रृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार, मैं नहीं छोड़ सका हूँ।'

कामायनी को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक मनु श्रद्धा आदि का ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है वह केवल उसकी अतीत की गौरव-मय पृष्ठभूमि, उसके पावित्र्य तथा उसके प्रति भावना जनित उपासना तक ही सीमित है। शेष केवल आदि मानव के मनोविधान के प्रस्फुटन, प्रवृत्तियों के संघर्ष, उनके निर्माण विकास तथा समन्वय से संबद्ध एक मनोवैज्ञानिक कल्पना सृष्टि भर है, जो कामनाओं की शिराओं से जकड़ी हुई है, जिसके शिखर पर अध्यात्म का समरस शुभ्र प्रकाश प्रतिफलित हो रहा है।

इसके स्पष्टीकरण के लिए पहिले कामायनी के कथानक पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। वह संक्षेप में इस प्रकार है :—कामायनी में पंद्रह सर्ग हैं। जिनके नाम है क्रमशः चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनंद, जो मनुष्य के मन की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों के नाम हैं और जिनका विकास क्रम अधिकतर कल्पना की सुविधा के अनुसार ही रखा गया प्रतीत होता है।

भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध जल प्लावन के कारण देवताओं की वैभव सृष्टि जलमग्न होकर विनष्ट हो जाती है। मनु की चिन्ता से प्रतीत होता है कि अपने चरम शिखर पर पहुँचने के बाद वह देव सृष्टि के ह्रास का युग था,

जिसका सांकेतिक अर्थ कामायनी में नहीं मिलता। देवता अत्यंत विलास रत रहते थे—मनु के शब्दों में—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मदमें
भोले थे हाँ, तिरते केवल सब विलासिता के मद में।

वह उन्मत्त विलास क्या हुआ ? स्वप्न रहा था छलना थी—इत्यादि—

अस्तु—प्रथम सर्ग में जलप्लावन की भीषण पृष्ठभूमि पर उत्तुंग हिम शिखर का शुभ्र सौन्दर्य नैराश्य से निखरते हुए दृढ़ विश्वास की तरह मन को मोहक लगता है। भीगे नयन मनु का हृदय विगत स्मृतियों से उद्वेलित तथा चिन्ताग्रस्त है। धीरे-धीरे प्रलय प्रकोप शांत हो जाता है : मनु में आशा का संचार होता है, वह फिर से यज्ञ करने लगते हैं। एक दिन श्रद्धा से उनका साक्षात् होता है, जो केवल मन के निचले स्तरों में काम तथा वासना के रूप में प्रकट होती है। श्रद्धा को इससे लज्जा का अनुभव होता है। कालांतर में मनु फिर कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। असुर पुरोहितों के प्रभाव से वे हिंसक तथा अहेरियों का जीवन व्यतीत करने लगते हैं। श्रद्धा इससे असंतुष्ट रहती है। एक दिन मनु वाद विवाद से ऊबकर श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। उन्हें उसके महत्व को पहिचानने के लिए और भी निम्न प्रवृत्तियों का अनुभव प्राप्त करना था। सरस्वती के तट पर वह हैमवती छाया सी इड़ा के संपर्क में आते हैं—जो भेद बुद्धि या तर्क बुद्धि की प्रतीक है। इड़ा मनु को ऐहिकता की ओर प्रवृत्त करती है। वह उसकी सहायता से वहाँ राज्य बसाते हैं, और भोग में रत रहते हैं। श्रद्धा इस बीच पुत्रवती हो जाती है, वह मनु की प्रतीक्षा से निराश होकर उनकी खोज में निकलती है। इड़ा पर आसक्त हो जाने के कारण देवतागण मनु से रुष्ट हो जाते हैं। प्रजा भी उनसे असंतुष्ट होकर विद्रोह करती है। मनु युद्ध में आहत होकर गिर पड़ते हैं। यह उनका चरम पतन है। इसके बाद मनु का उत्थान प्रारंभ होता है। श्रद्धा के स्पर्श से वह जग उठते हैं और वहाँ से चुपके से निकल भागते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौंप कर मनु की खोज में जाती है। वह भागवत् करुणा की तरह सदैव आदि मानव की रक्षा के लिए आतुर रहती है। मनु उसके साथ फिर मन के शृंगों का आरोहण करते हुए

इच्छा, ज्ञान, कर्म के त्रिपुर में पहुँचते हैं। श्रद्धा उनका परिचय कराती है। तदनंतर मनु मानस तट पर नित्य आनंद-लोक की प्राप्ति करते हैं, जहाँ विश्व के सुख दुख नहीं व्याप्त होते। उस समतल अधिमन की भूमि पर

**समरस थे जड़ या चेतन, सुंदर साकार बना था।**
**चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।**

कामायनी का कथानक उसमें निहित काव्य दर्शन की अवतारणा के लिए केवल संक्षिप्त रंग मंच का काम करता है। कथानक की दृष्टि से उसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। उसमें न विस्तार है, न विवरण और किसी प्रकार की प्रगाढ़ता, हृदयमंथन अथवा भावों के उत्थान पतन की सूक्ष्मता भी नहीं है। सब कुछ अस्पष्ट तथा कल्पना की तहों में लिपटा हुआ प्रसाद जी के इच्छा इंगित पर चलता प्रतीत होता है। भाव भूमिपर आधारित होते हुए भी भावनाओं के संवेग में केवल शिथिलता तथा अनगढ़पन ही अधिक मिलता है। अत्यंत साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मन को खटकने लगता है। विधान का सौष्ठव, स्थूल और सूक्ष्म के बीच के कुहासे से गुंफित छायापट की तरह, तीव्र अनुभूति के संवेदन में घनीभूत नहीं हो पाया है। पर जैसा कुछ भी धुला-घुला रंगों का छाया प्रसार है, वह सुथरा, मनमोहक तथा बहुमूल्य है।

कला चेतना की दृष्टि से कामायनी छायावादी युग का प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। रत्नच्छाया व्यतिकर की तरह उसकी कला भावों की धूमिल वाष्प भूमि में प्रस्फुटित होकर नेत्रों को आकर्षित किए बिना नहीं रहती। उसमें प्राणों का मर्म मधुर उन्मन गुंजार, भावनाओं का आरोहण, तथा व्यापक सौन्दर्यबोध की नवोज्वलता है। कुछ सर्गों में प्रसाद जी की कला हिमशिखरों पर फहराती हुई ऊषा की स्वर्णिम आभा की तरह हृदय को विस्मयाभिभूत कर देती है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। अधिकतर वह आधे खुले आधे छिपे मुग्धा के अवगुंठित मुख की तरह, मन से आँख मिचौनी खेलती रहती है। वह हृदय को तन्मय नहीं करती केवल प्राणों में रस स्रवण करती है। लज्जा सर्ग का आरम्भ प्रसाद जी के कला जगत् के लिए उपयुक्त प्रवेशद्वार का काम करता है।

'कोमल किसलय के अंचल में, नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी,
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों
नीरव निशीथ में लतिका सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती,
कोमल बांहें फैलाये सी आलिंगन का जादू पढ़ती
किन इन्द्र जाल के फूलों में लेकर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला, जिससे मधुधार ढरे।

इत्यादि।

इन उपमानों द्वारा प्रसाद जी लज्जा का मूर्तिकरण करते हैं। सुरभित लहरों की छाया के बाद बुल्ला शब्द खटकता है, जादू पढ़ती तथा मधुधार ढरे भी अच्छे नहीं लगते। शब्दों के चयन में इस प्रकार की शिथिलता कामायनी में अत्यधिक मिलती है, जिसका कारण यह हो सकता है कि प्रसाद जी को उसे दुबारा देखने का समय नहीं मिला। वैसे साधारणतः कामायनी की कला चेतना में जैसा निखार मिलता है कला शिल्प अथवा शब्द शिल्प में वैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती। कहीं कहीं छंद भंग तो असावधानी या छापे की ग़लती से भी हो सकता है, किंतु बेमेल शब्द तथा श्लथ पद विन्यास इस महान कृति के अनुकूल नहीं लगते। प्रायः प्रत्येक सर्ग एक स्वतंत्र कविता की तरह आरंभ होता है,उसमें बहुत कुछ ऐसा विस्तार तथा बाहुल्य है जो प्रायः काव्य द्रव्य की दृष्टि से बहुमूल्य नहीं और जिस पर संयम रखने की आवश्यकता थी, जिससे संतुलन श्री वृद्धि हो सकती थी। 'दर्शन' शीर्षक सर्ग का छन्द भी उसके उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। किन्तु इन सब बातों का विस्तार पूर्वक विवेचन के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं है। 'रहस्य' तथा आनंद नामक सर्गों में कुछ स्थलों को छोड़कर कल्पना के आरोहण के साथ ही कला में भी संयम का सुमधुर निखार आ गया है। यथा—

संध्या समीप आई थी उस सर के वल्कल वसना
तारों से अलक गुँथी थी, पहने कदम्ब की रसना

खगकुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव
किन्नरियाँ बनीं प्रतिध्वनि लेती थी तानें अभिनव !
श्रद्धा ने सुमन बखेरा शत शत मधुपों का गुंजन
भर उठा मनोहर नभ में मनु तन्मय बैठे उन्मन, इत्यादि।

अब हम संक्षेप में कामायनी के दर्शन पक्ष पर भी विचार कर लें। मानव मनकी प्रवृत्तियों का संघर्ष, उत्थान पतन तथा उन्नयन ही कामायनी की दर्शन पाठ है। तर्क बुद्धि इड़ा तथा श्रद्धा का समन्वय ही उसका निःश्रेयस भरा संदेश है। यह सब ठीक है। मनु और इड़ा के आख्यान में वर्तमान युग संघर्ष का भी यत्किंचित् आभास मिलता है। यद्यपि उसमें नैतिक पतन को ही संघर्ष का कारण बतलाया गया है जो आज की युग की समस्या के लिए पूर्णतः घटित नहीं होता। किंतु उसके बाद जो कुछ है वह केवल चिर परिचित तथा पुरातनतम, जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है,—अतिक्रम इस अर्थ में कि वह मानव जीवन के अधिक निकट पहुँच गया है। मनु इड़ा प्रेरित जीवन संघर्ष के विरक्त हो भाग खड़े होते हैं और जीवन की भूमि को छोड़कर मनके सूक्ष्म प्रतिमान रूप त्रिपुर को भी पार कर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक में पहुँचकर जीवन समस्याओं का समाधान पाते हैं जो सुख दुख भेद भाव के द्वन्द्वों से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीड़ा स्थल है। इड़ा श्रद्धा त्रिपुर और उनके पारस्परिक संबंध में तथा आनन्द की स्थिति के उद्घाटन के बीच अनेक प्रकार की जो छोटी मोटी दार्शनिक असंगतियाँ तथा कल्पना का आरोप मिलता है उस पर विचार न करते हुए भी जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुँचकर विश्व जीवन के सुख दुखमय सघर्ष से मुक्त होने का संदेश कामयानी में मिलता है वह मुझे पर्याप्त नहीं लगता। मैं मानव चेतना का आरोहण करवा कर उसे वहीं मानस तट पर अथवा अधिमानस भूमि पर कैलाश शिखर के सान्निध्य में छोड़कर संतोष नहीं करता। वह आनंद चैतन्य तो है ही और जीवन संघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो विश्व जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे—

उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक परलोक के बीच का, धरती स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अंतराल किस प्रकार भरा जाय। उसके लिए निःसंशय ही इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किंतु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से?

यहीं पर कामायनी कला प्रयोगों में आधुनिक होने पर भी और कुछ अंशों में भाव परिधान से भी आधुनिक होने पर भी वास्तव में जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकी। और अभिव्यक्ति देना तो दूर उसकी ओर दृष्टिपात कर उसकी संभावना की ओर भी ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही चिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एवं समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहण मूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य युग की अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।

किन्तु यह सब होने पर भी कामायनी इस युग की एक अपूर्व अद्वितीय महान् काव्य कृति है, इसमें मुझे संदेह नहीं। वह हमारे युग—प्रवर्तक प्रसाद जी का शुभ्र शांत सौन्दर्य का पवित्र यशःकाय है, जिसे हिन्दी साहित्य में और संभवतः विश्व साहित्य में भी जरामरण का भय नहीं है...मैं यदि कभी कामायनी लिखने की असंभव बात सोचता भी तो मैं उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नहीं बना सकता, जितना कि उसे महान क्षमता तथा प्रतिभाशाली प्रसाद जी बना गए हैं।

कामायनी उनके सौंदर्य, प्रेम, तथा भगवान के प्रति श्रद्धा की धरोहर की तरह सदैव अमर रहे और अपने प्रेमी पाठकों को शांति, सुख, सांत्वना देकर आत्म कल्याण का पथ दिखाती रहे, यही एक मात्र मेरे हृदय की कामना है।

# काव्य संस्मरण

जिस प्रकार अनेक रंगों में हँसती हुई फूलों की वाटिका को देखकर दृष्टि सहसा आनंद चकित रह जाती है उसी प्रकार जब काव्य चेतना का सौन्दर्य हृदय में प्रस्फुटित होने लगता है तो मन उल्लास से भर जाता है। न जाने जंगल में कहाँ किन घाटियों की छायाओं में, किन गाते हुए स्रोतों के किनारे तरह-तरह की फैली झाड़ियों की ओट में पत्तों के झरोखों से झांकते हुए ये छोटे बड़े फूल इधर उधर बिखरे पड़े थे, जब कि मनुष्य के कला प्रिय हृदय ने उनके सौन्दर्य को पहचान कर, उनका संकलन कर तथा उन्हें मनोहर रंगों की मैत्री में अनेक प्रकार की क्यारियों तथा आकारों में साज सँवार कर उन्हें वाटिका अथवा उपवन का रूप दिया और इसी प्रकार अपने उपचेतन के भीतर भावनाओं तथा आकांक्षाओं के गूढ़ तहों में छिपे हुए अपनी जीवन चेतना के आनंद सौंदर्य तथा रस की खोजकर उसे काव्य के रूप में संचित किया।

जिस प्रकार बादलों के अंधकार से सहसा अनेक रंगों के रहस्य भरे इंद्रधनुष को उदित होते देखकर किशोर मन आनंद विभोर होकर किलकारी भरने लगता है उसी प्रकार एक दिन कविता के रत्नच्छायामय सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर मेरा मन मेघदूत की कुछ पंक्तियां गुनगुनाने लगा। मैं तब नौ-दस साल का रहा हूँगा। मेरे बड़े भाई बी. ए. की परीक्षा समाप्त कर छुट्टियों में घर आए हुए थे और बड़ी भाभी को मधुर कंठ से गाकर राजा लक्ष्मण सिंह का मेघदूत सुनाया करते थे। मैं चुपचाप उनके पास बैठकर अत्यंत तन्मयता के साथ मेघदूत के पद सुना करता था और एक अज्ञात आकुलता से मेरा मन चंचल हो उठता था, संभवतः भाई साहब के कंठ स्वर के प्रभाव के कारण। तब मैं यह नहीं जानता था कि मेघदूत कालिदास की रचना है और यह केवल उसका हिन्दी अनुवाद है। बार बार सुनने के कारण मुझे मेघदूत के अनेक पद कंठस्थ हो गए थे और एकांत में मेरा मन उन्हें दुहराया करता था, जैसे किसी

उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक परलोक के बीच का, धरती स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अंतराल किस प्रकार भरा जाय। उसके लिए निःसंशय ही इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार को समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किंतु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से?

यहीं पर कामायनी कला प्रयोगों में आधुनिक होने पर भी और कुछ अंशों में भाव परिधान से भी आधुनिक होने पर भी वास्तव में जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकी। और अभिव्यक्ति देना तो दूर उसकी ओर दृष्टिपात कर उसकी संभावना की ओर भी ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही चिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एवं समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहण मूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य युग की अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।

किन्तु यह सब होने पर भी कामायनी इस युग की एक अपूर्व अद्वितीय महान् काव्य कृति है, इसमें मुझे संदेह नहीं। वह हमारे युग—प्रवर्तक प्रसाद जी का शुभ्र शांत सौन्दर्य का पवित्र यशःकाय है, जिसे हिन्दी साहित्य में और संभवतः विश्व साहित्य में भी जरामरण का भय नहीं है...मैं यदि कभी कामायनी लिखने की असंभव बात सोचता भी तो मैं उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नहीं बना सकता, जितना कि उसे महान क्षमता तथा प्रतिभाशाली प्रसाद जी बना गए हैं।

कामायनी उनके सौंदर्य, प्रेम, तथा भगवान के प्रति श्रद्धा की धरोहर की तरह सदैव अमर रहे और अपने प्रेमी पाठकों को शांति, सुख, सांत्वना देकर आत्म कल्याण का पथ दिखाती रहे, यही एक मात्र मेरे हृदय की कामना है।

# काव्य संस्मरण

जिस प्रकार अनेक रंगों में हँसती हुई फूलों की वाटिका को देखकर दृष्टि सहसा आनंद चकित रह जाती है उसी प्रकार जब काव्य चेतना का सौन्दर्य हृदय में प्रस्फुटित होने लगता है तो मन उल्लास से भर जाता है। न जाने जंगल में कहाँ किन घाटियों की छायाओं में, किन गाते हुए स्रोतों के किनारे तरह-तरह की फैली झाड़ियों की ओट में पत्तों के झरोखों से झांकते हुए ये छोटे बड़े फूल इधर उधर बिखरे पड़े थे, जब कि मनुष्य के कला प्रिय हृदय ने उनके सौन्दर्य को पहचान कर, उनका संकलन कर तथा उन्हें मनोहर रंगों की मैत्री में अनेक प्रकार की क्यारियों तथा आकारों में साज सँवार कर उन्हें वाटिका अथवा उपवन का रूप दिया और इसी प्रकार अपने उपचेतन के भीतर भावनाओं तथा आकांक्षाओं के गूढ़ तहों में छिपे हुए अपनी जीवन चेतना के आनंद सौंदर्य तथा रस की खोजकर उसे काव्य के रूप में संचित किया।

जिस प्रकार बादलों के अंधकार से सहसा अनेक रंगों के रहस्य भरे इंद्रधनुष को उदित होते देखकर किशोर मन आनंद विभोर होकर किलकारी भरने लगता है उसी प्रकार एक दिन कविता के रत्नच्छायामय सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर मेरा मन मेघदूत की कुछ पंक्तियां गुनगुनाने लगा। मैं तब नौ-दस साल का रहा हूँगा। मेरे बड़े भाई बी. ए. की परीक्षा समाप्त कर छुट्टियों में घर आए हुए थे और बड़ी भाभी को मधुर कंठ से गाकर राजा लक्ष्मण सिंह का मेघदूत सुनाया करते थे। मैं चुपचाप उनके पास बैठकर अत्यंत तन्मयता के साथ मेघदूत के पद सुना करता था और एक अज्ञात आकुलता से मेरा मन चंचल हो उठता था, संभवतः भाई साहब के कंठ स्वर के प्रभाव के कारण। तब मैं यह नहीं जानता था कि मेघदूत कालिदास की रचना है और यह केवल उसका हिन्दी अनुवाद है। बार बार सुनने के कारण मुझे मेघदूत के अनेक पद कंठस्थ हो गए थे और एकांत में मेरा मन उन्हें दुहराया करता था, जैसे किसी

ने उन्हें अपने आप मेरे स्मृति पट पर अंकित कर दिया हो।

सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ पतिवती
सँदेसो ले वाको तव निकट आयो सुन सखी!

—यह प्रिय का जलद मेरे लिए भी जैसे कुछ संदेश लेकर आया है तब मैं इसे नहीं जानता था। जिसे अब मैं शिखरिणी छंद के नाम से जानता हूँ तब वह मुझे बहुत प्रिय लगता था। मैं प्रायः गाया करता था—

मिले भामा तेरो सुभग तन श्यामा लतन में
मुखाभा चंदा में चकित हरिणी में दृग मिलें—
चलोर्मी में भौंहें, चिकुर बरही की पुछन में
न पै हा काहू में मुहिं सकल तो आकृति मिले!

अब मुझे लगता है कि विरही यक्ष की तरह ही मैं भी न जाने कब से चकित हरिणी सी दृगवाली कविता कामिनी के लिए छाया पंख मेघ द्वारा संदेश भेजता रहा हूँ—किन्तु उसकी कोई पूर्ण आकृति—जिससे मन को संतोष हो ऐसी छवि, मैं अभी तक नहीं अंकित कर पाया हूँ, और मन ही मन सोचता हूँ :—

घाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह,
ऐसो घन कैसे दूत काज भुगतावेगो।
नेह को सँदेसो हाय चातुर पठैवे जोग,
बादर कहोजी ताहि कैसे के सुनावेगो॥

महाभारत के युद्ध का समर्थन जिस प्रकार गीता द्वारा कराया गया है उसी प्रकार मेघ द्वारा दूत कार्य कराने का समाधान मानो उपर्युक्त चरणों द्वारा किया गया है। मेघदूत में यत्र तत्र आये हुए प्रकृति वर्णनों ने तो मुझे बहुत ही मुग्ध किया है। यहाँ केवल एक ही उदाहरण देकर संतोष करूँगा :

जल सूखत सिन्धु भई पतरी तन, बेनी सरी को दिखावती है।
तटरूखन तें झरें पात पके, छवि पीरी मनो अँग लावती है॥
धरि सोहनो रूप बियोगिनी को वह तो में सुहाग सनावती है।
करियो घन सो विधि वाके लिये तन छीनता जो कि मिटावती है॥

छुटपन में मुझे विरहिणी नारी की रूप कल्पना अत्यंत सुन्दर लगती थी, संभव है यह मेघदूत ही का प्रभाव हो।

शिला पै गेरू ते कुपित ललना तोहि लिखिके।
धर्‌यों जौ लौं चाहूँ तन अपन मेरे पगन में॥
चले आँसू तौ लौं दृगन मग रोकें उमगि के।
नहीं धाता धाती चहत हम याहू विधि मिलें॥

इन पंक्तियों को गाते तो आँखों में बरबस आँसू उमड़ आते थे।

मेघदूत के अतिरिक्त मुझे शकुंतला में चौकड़ी भरते हुए हिरन का दृश्य भी बड़ा मोहक लगता था, जो इस प्रकार है—

फिर फिर सुंदर ग्रीवा मोरत, देखन रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे, पिछलो गात समेटत आगे।
अधखौंथी मग दाभ गिरावत, थकित खुले मुख ते बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अबही, धरत पाँव धरती जब तब ही।

इस 'पिछलो गात समेटत आगे'—का संस्कृत का रूप है—

पश्चार्धेन प्रविष्ट : शरपतनभयाद्भूयसा पूर्व कायम्—इस चरण में तो जैसे हिरन की गति आँखों के सामने मूर्तिमान हो उठती थी।

'पहरे वल्कल वसन यह लागत नीको बाल' वाले छंद को जब पीछे मैंने संस्कृत में पढ़ा तब तो जैसे शकुतला की समस्त मधुरिमा के सौरभ से हृदय भर गया। वह इस प्रकार है :

सरासिज मनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति
इहमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिवहिमधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्

अंतिम पंक्ति का सत्य तो बारबार जीवन में परखने को मिलता रहा।

इस प्रकार मेघदूत और शकुन्तला के, राजा लक्ष्मणसिंह कृत, हिन्दी अनुवादों ने ही छुटपन में सब से पहले मेरे भीतर काव्य प्रेम की नींव डाली। इसके बाद जिन पंक्तियों की ओर सर्व प्रथम. मेरा ध्यान आकर्षित हुआ वह

तुलसीकृत रामायण की हैं; जिसका पाठ मेरी बहिन किया करती थी—यह भी छुटपन ही की बात है—वे पंक्तियाँ हैं—

जय जय जय गिरिराज किशोरी, जय महेश मुख चन्द चकोरी।
जय गजवदन षडानन माता, जगत जननि दामिनि द्युति गाता॥
नहि तव आदि मध्य अवसाना, अमित प्रभाव वेद नहि जाना।
भव भव विभव पराभव कारिणि, विश्व विमोहिनि स्ववश विहारिणि॥

इन पंक्तियों की ओर मेरा ध्यान इसलिए भी आकर्षित हुआ कि मैं गिरिराज हिमालय के अंचल में पला हूँ और रातदिन हिमशिखरों का दृश्य देखता रहा हूं। पार्वती की इस स्तुति को सुनकर हिमालय के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गई थी और जब उसके वाष्प शुभ्र शृङ्गों में कभी बिजली चमक उठती थी, जगत जननि दामिनि द्युति गाता का स्मरण हो आने से, मेरा मन आंखों के सामने दिगंत व्यापी हिम श्रेणियों को देखकर विचित्र संभ्रम के भाव से भर जाता था।

मध्ययुगीन हिन्दी कवियों में पीछे जिस रचना ने मुझे सबसे अधिक मोहित किया वह है श्री नरोत्तमदास कृत सुदामा चरित, जिसे मैंने न जाने कितनो बार पढ़ा है।

सीस पगा न झगा तन में प्रभु जानै को आहि, बसे केहि ग्रामा,
धोती फटी सी, लटी दुपटी, अरु पांय उपानह की नहिं सामा।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल, देखि रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा॥
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा।

द्वार पर खड़ी सुदामा की मूर्ति आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठती थी और हृदय कौतूहल से भर जाता था कि देखें कृष्ण क्या कहते हैं? आज अनेक दीनहीन किसान मजदूरों के काव्य चित्र देखने को मिलते हैं—किन्तु नरोत्तम दास के सुदामा का वह जीवंत सम्मोहन उनमें नहीं मिलता। सुदामा की स्त्री अपनी गृहस्थी का जो चित्र उपस्थित करती है वह तो जैसे बरछी की तरह हृदय में चुभ जाता है।

कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती

सीत वितीतत जो सिसियात तो हौं हठती पै तुम्हें न हठौती।
जौ जनती न हितू हरि सौं तो मैं काहे को द्वारिका पेलि पठौती
या घर तें कबहू न गयो पिय, टूटो तयौ अरु फूटी कठौती।

वस्तु स्थिति को ज्ञाता सुदामा की पत्नी उसे द्वारिका जाने को कई तरह से मनाती है—वह कहती है—जो पन अपार वै तुम्हें न पहचानि हैं?—जो पै सब जनम दरिद्र हो सतायौ तौ पै कौने काज आइ है कृपानिधि की मित्रई?—किन्तु निरीह स्वाभिमानी सुदामा उसे समझता है—सुख दुख करि दिन काटे ही बनैंगे, भूलि विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।

सुदामा का द्वारिका जाना, कृष्ण से मिलना और फिर लौट कर अपनी कुटी को न पहचान सकना—सभी वर्णन मेरे किशोर हृदय को अत्यन्त मर्म स्पर्शी लगते थे।

देव बिहारी, पद्माकर, मतिराम आदि अनेकों कवियों के चमत्कार पूर्ण पदों ने तब मेरे मन को अनेक अनूठे भावों की सौरभ के रस सिक्त किया है। और भी प्राचीन कवियों में विद्यापति मुझे बहुत प्रिय रहा है। उसकी कल्पना, उसका सौन्दर्य बोध तथा कवित्व शक्ति सदैव चिर नवीन रहेगी।

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे
जीवन बिनु तन तन बिनु जीवन, की जोवन पिय दूरे।—पँक्तिया

मन को एक अज्ञात अभाव से आकुल कर देती थीं।...सूरदास के—'खंजन नैन रूप रसमाते—चंचल चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते'—पद चंचल पक्षियों की तरह पंख मार कर कल्पना के आकाश में बार बार मँडराया करते थे।

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो,
इक लोहा पूजा में राख्यो इक घर बधिक परयौ
पारस गुन अवगुन नहिं देखत, कंचन करत खर्‌यो

इन पदों से मुझे सदैव बड़ी सांत्वना मिलती रही है।

खड़ी बोली के कवियों में गुप्तजी के 'जयद्रथ वध' नामक खंड काव्य के अनेकों चरण मुझे कंठस्थ हो गए थे। उनमें उत्तरा का विलाप मुझे विशेष रूप के प्रिय लगता था।

गति मति सुकृति धृति पूज्य प्रिय पति स्वजन शोभन संपदा
हा एक ही जो विश्व में सर्वस्व था तेरा सदा
यों नष्ट उसको देखकर भी वन रहा तू भार है
हे कष्टमय जीवन तुझे धिक्कार बारम्बार है

इन चरणों को मैं प्रायः गुनगुनाया करता था। आगे चलकर तो गुप्त जी की अनेक रचनाओं से मुझे प्रेरणा मिली है। उनकी नवीनतम कृतियों में 'पृथवी पुत्र' मुझे विशेष प्रिय है। उस समय 'प्रिय प्रवास' के भी अनेक अंश मुझे अच्छे लगते थे। विशेषकर यशोदा और श्रीराधा का विलाप, अब भी मुझे उसकी अनेक पंक्तियाँ याद हैं।

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व होवे न कोई
कैसी ही हो सरस सरिता वारिशून्या न होवे,
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का
मोती ऐसा रतन अपना हाय कोई न खोवे! इत्यादि!

श्री नाथूराम शंकर शर्मा के भी कई छंदों ने मुझे मुग्ध किया है—विशेपकर उनकी 'केरेल की तारा' नामक रचना ने, जो तब कविता कलाप में प्रकाशित हुई थी।

चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग
खंजन खिलाड़ियों के पङ्ख झड़ जाएँगे
आज इन अँखियों से होड़ करने को भला
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जाएंगे—

अथवा मोहिनी की माँग के लिए 'तेजने तिमिर के हिये में तीर मारा है' आदि अनेक पंक्तिया आज भी स्मृति पट पर जग उठती हैं।

किन्तु कोई विशेष काव्य कृति कब क्यों प्रिय लगती है यह कहना सरल नहीं है। संभवतः बहुत कुछ उस समय के वातावरण तथा चित्त वृत्ति पर भी निर्भर रहता है। और यदि कुछ रचनाएं स्मृति पट पर अंकित हो जाती हैं तो वह सदैव ही उनकी उत्कृष्टता का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

प्रसादजी की रचनाओं के संपर्क में मैं बहुत पीछे आया, उससे पहिले

मेरा परिचय निराला जी की कविताओं से हो चुका था। सन् ३०-३१ के बाद निरालाजी से व्यक्तिगत परिचय बढ़कर मैत्री में परिणत हो चुका था। तब वह प्रायः जिन रचनाओं को सुनाया करते थे उनमें से अनेक कविताएं मुझे विशेष प्रिय रही हैं। जैसे—

भर देते हो—बार बार तुम करुणा की किरणों से
तप्त हृदय को शीतल कर देते हो!—इत्यादि अथवा
जागो एक बार—प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पङ्क तरुण किरण खोल रहीं द्वार! आदि

और भी अनेक ऐसी रचनाएं जिन्हें मैं स्मृति से उद्धृत कर सकता हूँ और जो अब उनके परिमल नामक काव्य संग्रह में संगृहीत हैं मुझे प्रिय रही हैं। परिमल की रचनाएं मेरे अंतर में निरालाजी की घन गभीर मंद्र मधुर ध्वनि में अंकित हैं। उनकी बड़ी रचनाओं में तुलसीदास, सरोजस्मृति तथा राम की शक्ति पूजा मुझे विशेष प्रिय हैं। छोटी रचनाओं में परिमल के गीतों के अतिरिक्त गीतिका के अनेक गीत बड़े सुन्दर लगते हैं। यथा—सखि, वसंत आया, भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया—अथवा—मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार—अथवा—मेरे प्राणों में आओ, शतशत शिथिल भावनाओं के उर के तार सजा जाओ! इत्यादि। इस प्रकार गीतिका के अनेक गीत मुझे अत्यधिक प्रिय हैं जिनमें 'वीणा-वादिनि वर दे' भी है जो अत्यंत लोक प्रिय हो चुका है।

प्रसाद जी की बीती विभावरी जागरी,
अंबर पनघट पर डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी

गीत एक विचित्र आशा जागरण का मंत्र लेकर मन को लुभाता है। और उनका 'हे लाज भरे सौन्दर्य बताओ मौन बने रहते हो क्यों—गीत तो जैसे प्रसाद जी की मूर्तिमती कविता की तरह हृदय में अपने आप गूंजता रहता है। प्रसाद जी के नाटकों के अनेक अन्य गीतों की तरह कामायनी के भी अनेक अंश मेरी स्मृति की प्रिय धरोहर में से हैं, जिनका उदाहरण देना संभव नहीं।

महादेवी जी का जो मर्म मधुर गीत सबसे पहिले अपनी अपलक

प्रतीक्षा की आशा लेकर मन में प्रवेश कर गया वह उनके नीहार नामक संग्रह में मिलता है।

जो तुम आ जाते एक बार!
कितनी करुणा, कितने सँदेश, पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार, अनुराग भरा उन्माद राग।
आँसू लेते वे पद पखार!

मुझे अपनी रचनाओं में 'चाँदनी' सब के प्रिय हैं जो मेरे मन की अकांक्षाओं से मेल खाती हैं—

जग के दुख दैन्य शयन पर, यह रुग्णा जीवन बाला
रे कब से जाग रही यह आँसू की नीरव माला—इत्यादि।

किंतु, 'जो तुम आ जाते एक बार' को मैं इससे भी अधिक अपने निकट पाता हूँ। आगे चलकर तो महादेवी जी ने अनेकों ऐसे गीत दिए हैं जिन्हें कंठस्थ कर लेने को जी करता है, जिनमें 'मैं नीरभरी दुख की बदली' भी है। सांध्यगीत तथा दीप शिखा के अनेकों गीत मन के मौन सहचर बनगए हैं जो अंतर को स्वप्न ध्वनित करते रहते हैं।

बच्चन भी मेरा अत्यंत प्रिय कवि तथा मित्र रहा है। निशा निमंत्रण तथा एकांत संगीत के अनेकों गीत 'मध्य निशा में पंछी बोला' की तरह मनके अंतरतम निराशा के स्तरों में गहरी-वेदना उड़ेल देते हैं। वैसे बच्चन की ओर सबसे पहिले मैं उसकी पग ध्वनि से आकर्षित हुआ।

उर के ही मधुर अभाव चरण बन, करते स्मृति पट पर नर्तन
मुखरित होता रहता बन बन,
मैं ही उन चरणों में नूपुर नूपुर ध्वनि मेरी ही वाणी
वह पग ध्वनि मेरी पहचानी!—

बच्चन की कविता की पगध्वनि मेरे मन की चिर पहचानी बन चुकी है। उसकी मिलन यामिनी के अनेक गीत मुझे पसंद है—विशेषकर—

प्राण, संध्या झुक गई गिरि ग्राम तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद

**मेरा प्यार पहिली बार लो तुम !**—इत्यादि

काव्य वन के चंचल खंजन श्री नरेन्द्र शर्मा को मैं नरेन कहता हूँ—

सब के पहिले उसके 'प्रवासी के गीत' की प्रथम रचना ने ही मेरा ध्यान उसके कवि की ओर आकृष्ट किया—

**साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी,**

यह पंक्ति जैसे जीवन की अनेक गहरी साँझों को मौन मुखरित कर जीवन विषाद के साक्षी की तरह मन की आँखों के सामने प्रत्यक्ष होती रहती है। उनके 'मिट्टी और फूल' की अनेक रचनाओं की पंक्तियाँ मन में जब तब गूंज उठती हैं। नरेन्द्र के अतिरिक्त श्री अज्ञेय जी की भी अनेक रचनाएं मेरी प्रिय रही हैं। 'हारिल' रचना मैंने कई बार पढ़ी है। 'हरी घास पर क्षण भर' की हरियाली में क्षण भर ही नहीं अनेक बार देर तक विचरण करता रहा हूँ। 'नदी के द्वीप' कविता के समर्थन में तो कई बार उनसे कह चुका हूँ कि मैं भी नदी का ही द्वीप हूँ।

वैसे अनेकों और भी रचनाएँ मुझे अपने समकालीन एवं नवीन कवियों की प्रिय हैं जिनकी चर्चा समयाभाव के कारण इस छोटी सी वार्ता में करना संभव नहीं। इनमें 'दिनकर' की किरणों का सम्मोहन मुझे सर्वाधिक प्रिय है।

# पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा

मेरे विचार में प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह पुस्तकों से ही सीखे। पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक साधन हैं जिनसे मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर सकता है और अपने भीतर सुरुचि, शील तथा उच्चतम संस्कारों को संचित कर सकता है। पुस्तकों की शिक्षा एक प्रकार से एकांगी शिक्षा है। हम प्रायः लोगों को कहते सुनते हैं कि अभी तुमने पढ़ा ही है गुना नहीं। इससे यही ध्वनि निकलती है कि पुस्तकों की कोरी पढ़ाई को जीवन और स्वभाव का अंग बनाने के लिये और भी अनेक प्रकार की शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनमें सबसे प्रमुख स्थान शायद अनुभूति का है। वैसे भी सच्ची शिक्षा के लिये, जिससे कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सके, पुस्तकों के अध्ययन मनन के साथ ही उपयुक्त वातावरण तथा संस्कृत व्यक्तियों का सहवास, जिसे सत्संग कहते हैं, अत्यन्त आवश्यक है : जिनके बिना हम कोरे काग़ज़ी उपदेशों अथवा नैतिक सत्यों को अपने मन तथा स्वभाव का अंग नहीं बना सकते। महान् व्यक्तियों के उन्नत विचारों तथा महान् ग्रंथोंके उत्तम आदर्शों को आत्मसात् कर उन्हें जीवन में परिणत करने के लिये यह भी नितांत आवश्यक है कि उन्हें अपने कार्यों एवं आचरणों में अभिव्यक्त करने के लिये हमें मनोनुकूल व्यापक सामाजिक क्षेत्र मिले। जिस देश या समाज में बाह्य परिस्थितियाँ, व्यक्तिगत रागद्वेष तथा छोटे मोटे स्वार्थों के कारण, मनुष्य की उन्नत आंतरिक प्रेरणाओं का विरोध करती हैं वहाँ भी शिक्षा का परिपाक अथवा व्यक्तित्व का यथोचित विकास नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितियाँ केवल नाटे, बौने, ठिगने, कुबड़े व्यक्तियों को जन्म देकर रह जाती हैं।

स्वभाव से ही अत्यन्त भाव प्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तकों की ओर अधिक नहीं रही। मैंने व्यक्तियों के जीवन से, परस्पर के जन समागम से तथा महान् पुरुषों के दर्शन एवं उनके मानसिक सत्संग से कहीं

अधिक सीखा है, जिसे मैं सहज सीखना या सहज शिक्षा कहता हूँ। इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन मुखर सहवास से सीखा है। भावुक तथा संवेदन शील होने के कारण मेरे भीतर स्वभाव का अंश अत्यधिक रहा है। स्वभाव का अंश, जिसमें अच्छा बुरा, ऊँच नीच सबल तथा दुर्बल सभी कुछ रहा है और अत्यधिक रहा है। छुटपन से ही मैं सदैव अपने स्वभाव से उलझता रहा हूँ। अपने स्वभाव से संघर्ष करते रहने के कारण ही मैं थोड़ा बहुत सीख सका हूँ, अपनी दुर्बलताओं तथा अपनी एकांत आकांक्षाओं का ध्यान मेरे भीतर बराबर बना रहा है। अपने को भूल कर, आत्मविस्मृत होकर, अपने चिन्तन अथवा चिन्ता के घेरे से बाहर निकल कर शायद ही मैं कभी आत्मविभोर भाव से संसार के साथ रह सका हूँ। अगर किसी ने मुझे इस भावना से मुक्ति दी है तो वह प्रकृति ने। प्रकृति के रूप को देखकर मैं अनेकानेक बार आत्म विस्मृत हो चुका हूँ। जैसे मा बच्चे को अपनाती है, वैसा प्रकृति ने मुझे अपनाया है। उसने मेरे चंचल मन की आकुल व्याकुलता को, जिसे मैं किसी पर प्रकट नहीं कर सका हूँ और न स्वयं ही समझ सका हूँ...अपने में ले लिया है। प्रकृति के मुख का निरीक्षण कर मेरे भीतर अनेक गहरी अनुभूतियाँ उतरी हैं। संसार के छोटे मोटे संघर्षों तथा जीवन के कटु तिक्त अनुभवों के परे उसने एक व्यापक पुस्तक की तरह खुल कर मेरे भीतर अनेक सहानुभूतिएं, सांत्वनाएं, स्नेह ममत्व की भावनाएं तथा अवाक् अलौकिक, अपने को भुला देने वाली, शक्तियों का स्पर्श अङ्कित किया है।

प्रकृति से मेरा क्या अभिप्राय है शायद इसे मैं न समझा सकूंगा। अगर किसी वस्तु को बिना सोचे बिचारे, केवल उसका मुख देख कर, मेरे मन ने स्वीकार किया है तो वह प्रकृति है। वह शायद मेरी ही एक अंग है, सबसे स्निग्ध, उज्वल और व्यापक अंग, जिसके प्रशांत अंतस्तल में सब प्रकार के सद् असद्, उच्च क्षुद्र, तथा सुखदुख अपने आप जैसे घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं। उसकी एकांत क्रोड़ में बैठकर मैं अपने को सब से बड़ा अनुभव करता हूँ, जो अनुभूति मुझे और किसी के सन्मुख नहीं हुई है। छुटपन में दूसरों ने मुझे सदैव अपनी विकृतियों, संकीर्णताओं, कठोरताओं, निर्दयताओं तथा ढिठाइयों से दबाने का प्रयत्न किया है। अशिष्टता, रुखाई तथा असभ्यता का सामना करने में अपने को अक्षम

पाने के कारण मैं सदैव, दूसरों की अयोग्यता के सामने भी संकोचवश सिकुड़ कर रहा हूँ। किन्तु प्रकृति ने अपने आंगन में मुझे सदैव खुल खेलने को उसकाया है। उसने मेरे अनेक मानसिक घावों को अपने प्रेम स्पर्श से भर दिया है; मेरी अनेक दुर्बलताओं को अपनी प्रेरणाओं के प्रकाश से धोकर मानवीय बना दिया है। इस प्रकार जो सर्व प्रथम पुस्तक मुझे देखने को मिली, वह प्रकृति ही है।

फूल, चांद, तारे, इन्द्रधनुप और जगमगाते हुये ओसों से भरी इस रहस्यमयी प्रकृति के बाद...जिसका आनन्द संदेश मुझे सायं प्रातः पक्षी देते हैं...जिस दूसरे महान् ग्रंथ ने अपनी पवित्र मधुर छाप मेरे हृदय में अंकित की है, वह है बाइबिल का न्यू टेस्टामेंट। बाइबिलभी उदार मधुर प्रकृति की तरह अनजाने ही अपने आप मेरे भीतर के जीवन का एक अमूल्य अंग बन गई। चिन्तन और बौद्धिक व्यायाम की कठोरता से अछूती, अंतरतम की सहज मर्म पूर्ण पुकार की तरह, बाइबिल, जैसे भागवत् हृदय की, प्रेम करुणा से भरी, पवित्र भावना की ज्योति प्रेरित वाणी है। वह आत्मा का शुष्क ज्ञान नहीं, आत्मा की भाव विगलित, कविता की कविता है। क्राइस्ट के अश्रुधौत, महत् त्याग पूर्ण, मूर्तिमान प्रेम के व्यक्तित्व ने मेरे हृदय को मुग्ध कर दिया। दर्शन और मनोविज्ञान के नीरस तथ्यों से ऊब कर मेरा हृदय चुपचाप, शिशु के अखंड पवित्र विश्वास की तरह सरल मधुर, बाइबिल की दिव्य लय में बंध गया। Look at the lilies of the field, how they grow कहने वाले महान् अंतंद्रष्टा ने मेरे भीतर जीवन के स्वतः स्फूर्त सूक्ष्म अंतः सौन्दर्य का रहस्य खोल दिया। Resist not evil ने जैसे ईश्वरीय सत्य की अवश्यम्भावी अंतिम विजय का संदेश मेरे मन में अंकित कर दिया। Blessed are they that mourn, for they shall be camforted, Blessed are the meek: for they shall inherit the earth. जैसी सूक्तियों ने ईश्वर की अक्षय करुणा और प्रेम के न्याय के प्रति मेरे हृदय को अडिग विश्वास से भर दिया। इस क्षण भंगुर, रागद्वेष और कलह कोलाहल के अंधकार के परदे को चीर कर सब से पहले बाइबिल ने ही मेरे हृदय को ईश्वर की महिमा, स्वर्ग के राज्य, तथा मानवता के भविष्य की ओर

आकृष्ट किया। 'ye are the salt of the earth, ye are the light of the world' आदि वाक्यों ने मेरे मन की वीणा में एक अक्षय आशावादिता का स्वर जगा दिया। सब मिलाकर बाइबिल के अध्ययन ने संसार की अचिरता और 'परिवर्तन' के विषाद से भरे हुये मेरे अंतःकरण को एक अद्भुत नवीन विश्वास का स्वास्थ्य तथा अमरत्व प्रदान किया। अब भी बाइबिल को पढ़ने से उसी प्रकार भगवत् प्रेम के अश्रुओं से धुला, आत्म त्याग से पवित्र, जीवन के सात्विक सौन्दर्य का जगत, अपने मौन मधुर रूपरंगों के वैभव में मेरी मन की आँखों के सम्मुख प्रस्फुटित हो उठता है, जिसके चारों ओर एक अखंडनीय शांति का स्निग्ध वातावरण व्याप्त रहता है, जो दिव्य औषधि की तरह मन की समस्त श्रांति को मिटाकर उसे नवीन शक्ति प्रदान करता है।

बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदों के अध्ययन ने भी मेरे हृदय में प्रेरणाओं के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है। 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' का अनन्त प्रकाशपूर्ण वैभव मेरे अन्तर में उपनिषदों ने ही बरसाया है। उपनिषदों का अध्ययन मेरे लिये शाश्वत प्रकाश के असीम सिन्धु में अवगाहन के समान रहा है। वे जैसे अनिर्वचनीय अलौकिक अनुभूतियों के वातायन हैं, जिनसे हृदय को विश्वक्षितिज के उस पार अमरत्व की अपूर्व झांकियाँ मिलती हैं। अपने सत्य द्रष्टा ऋषियों के साथ चेतना के उच्च उच्चतम सोपानों में विचरण करने से अंतःकरण एक अवर्णनीय आह्लाद से ओतप्रोत हो गया। मन का कलुष और जीवन की सीमाएं जैसे अमृत के झरनों में स्नान करने से एक बार ही धुल कर स्वच्छ एवं निर्मल हो गईं। उपनिषदों का मनन करने से मन के बाह्य आधार नष्ट हो जाते हैं। उसकी सीमित कुंठित तर्कभावना को धक्का लगता है और बुद्धि के कपाट जैसे ऊपर को खुल जाते हैं। वह एक ऐसे अतीन्द्रिय केन्द्र में स्थित हो जाता है जहाँ से वह साक्षी की तरह तटस्थ भाव से विश्व जीवन के व्यापारों का निरीक्षण करने लगता है। उपनिषदों में भी ईशोपनिषद् ने नाविक के तीर की तरह मेरे मन के अन्धकार को भेदने में सबसे अधिक सहायता दी है। 'ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत' के मनन मात्र से ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और हृदय में जिज्ञासा

जग उठती है कि किस प्रकार इस क्षण भंगुर संसार के दर्पण में उस शाश्वत के मुख का बिम्ब देखा जा सकता है। ईशोपनिषद् के विद्या और अविद्या के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने भी मेरे मन को अत्यन्त बल तथा शांति प्रदान की।

उपनिषदों के अध्ययन के बाद जब मैंने टाल्सटाय की My Religion नामक पुस्तक पढ़ी तो मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मुझे लगा कि जैसे आकाश से गिर कर मैं खाई में पड़ गया हूँ। टाल्सटाय की विचारधारा पाप भावना से ऐसी कुंठित तथा पीड़ित लगी कि उसके संपर्क में आकर मेरे भीतर गहरा विषाद जमा हो गया। उपनिषदों के उज्वल, उन्मुक्त, अपापविद्ध ऊर्ध्वाकाश के वातावरण में साँस लेने वाले मन की गति जैसे श्रांति क्लांति से शिथिल होकर निर्जीव पड़ने लगी। इससे उपनिषदों के ब्रह्मवाद का महत्व मेरे मन में और भी बढ़ गया। इस देशकाल नामरूप के सापेक्ष जगत के परे जो सत्य का परात्पर शिखर है जो द्वन्दों में विभक्त इस जागतिक चेतना की सीमाओं से ऊपर और बुद्धि से अतीत है वही परम भावनीय सत्य का आधार हो सकता है। देश, काल परिस्थितियों के अनुरूप बदलती हुई सापेक्ष नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओं की स्थापना का रहस्य भी वही है।

किन्तु 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो' वाले उपनिषदों के सत्य में मन अधिक समय तक केन्द्रित नहीं रह सका। मेरा स्वभाव फिर मुझसे उलझने लगा और मेरे मन में बार बार यह जिज्ञासा उठने लगी कि यह सापेक्ष सत्य, जिसे माया कहते हैं, जो देशकाल के अनुरूप नित्य परिवर्तित होता रहता है, वह किन नियमों के अधीन है और उसे कौन सी शक्तियाँ संचालित करती रहती हैं। मेरी इस जिज्ञासा की पूर्ति अनेक अंशों तक मार्क्सवाद कर सका। हमारी समाजिक मान्यताओं का जगत क्यों और कैसे बदलता है और उसमें युगीन समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है इसका संतोषप्रद निरूपण, इसमें संदेह नहीं, केवल मार्क्सवाद ही यथेष्ट रूप से करा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तर्कप्रणाली हमारा परिचय उन नियमों से कराती है जिनके बल पर मानवीय सत्य का छिलका अथवा सामाजिक जीवन का ढाँचा संगठित होता है। वह मानव जीवन सिन्धु के उद्वेलन आलोड़न का, सामाजिक

उत्थान पतन तथा सभ्यता के प्रगति विकास का इतिहास है। मानव जीवन के इस समतल संचरण के वृत्त को मैंने अपनी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में वाणी देने का प्रयत्न किया है।

किंतु पुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त मानव जीवन के अध्ययन तथा मानव स्वभाव के संघर्ष की अनुभूतियों से मैं जिन परिणामों में पहुँचा हूँ उनसे मुझे प्रतीत होता है कि मानव विकास की वर्तमान स्थिति में हमें मानव जीवन के सत्य को उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक स्वरूपों में पहचानने के बदले उसे विश्वव्यापक सांस्कृतिक स्वरूप में पहचानने तथा अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है, जिससे उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के अंतर्विरोध नवीन जीवन सौन्दर्य की भावना में समन्वित हो सकें। इस सांस्कृतिक सौन्दर्य की भावना ही में मैं नवीन मनुष्यत्व एवं मानवता की भावना को अंतर्निहित पाता हूँ, जो धर्म और काम के बीच, व्यक्ति और विश्व के बीच, स्वभाव और नैतिक कर्तव्य के बीच, ऐहिक और पारलौकिक के बीच एक सुनहली पुलकी तरह झूलती हुई मुझे दिखाई देती है, जिसमें मानव जाति की प्रगति तथा विकास अपने अंतर संगीत की लय में बँधे हुये युग युग तक अविराम चरण धरते एवं आगे बढ़ते हुए जीवन की असीमता तथा शाश्वतता का प्रमाण देकर ईश्वर की आनंद लीला को सार्थक करते जाएँगे। एवमस्तु।

---

# जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण

कूर्मांचल की सौन्दर्य पंख तलहटी में पैदा होने के कारण मुझे जीवन प्रकृति की गोद में पेंग भरता हुआ मिला। सबसे पहिले मैंने उसके मुख को सुंदर के रूप में पहचाना। किन्तु बचपन की चंचलता भरी आँखों को जीवन का बाहरी समारोह जैसा मोहक तथा आकर्षक लगता है वास्तव में उसका वैसा ही रूप नहीं है। एक सृजन प्राण साहित्यजीवी को वह जैसा प्रतीत होता है जन साधारण को वैसा नहीं लगता। साहित्य, सौन्दर्य तथा संस्कृति का उपासक स्वभावतः भावप्रवण, कोमल प्राण, स्वाधीन प्रकृति, तथा संसार की दृष्टि से असफल प्राणी होता है। उसके मन को नित्य नवीन स्वप्न लुभाते रहते हैं और उसकी सौन्दर्य भोग की प्रवृत्ति उसे कठोर वास्तविकता से पलायन करने की ओर उन्मुख करती रहती है। अपनी भावुकता तथा स्वभाव कोमल दुर्बलता के कारण उसे जीवन में अधिक संघर्ष करना पड़ता है, और अपनी महत्वाकांक्षा के कारण बाहर के संसार के अतिरिक्त अपने अंतर्जगत से भी निरंतर जूझता रहना पड़ता है। किन्तु यह सब होने पर भी जीवनी शक्ति के प्रति उसके मन में एक अगाध विश्वास तथा अमिट आशा का संचार होता रहता है, जो जन साधारण के मन में कम पाया जाता है।

कुछ ऐसा ही स्वभाव लेकर मैंने भी इस संसार में पदार्पण किया। मेरी भीतर की दुनियाँ मेरे लिए इतनी सक्रिय तथा आकर्षक रही कि अपने बाहर के जगत के प्रति मैं छुटपन से ही प्रायः उदासीन रहा। मैंने अपने समय का अधिकांश भाग कमरे के भीतर ही बिताया है और खिड़कियों के चौखटों में जड़ा हुआ जो पास पड़ोस का दृश्य मुझे देखने को मिलता रहा उसी से मैं संतोष करता रहा हूँ। और अगर कभी मुझे खिड़की के पथ से फूलों से भरी पेड़ की डाल दिखाई दी अथवा चिड़ियों का चहकना कानों में पड़ गया तब मेरी कल्पना जैसे उसमें अपना गंध मधु मिला कर मुझे किसी अपरूप स्वर्ग में उड़ा ले गई है

और मैं बाहर के संसार के प्रति आँखें मूँद कर और भी अपने भीतर पैठ गया हूँ, जहाँ पहुँचने पर मेरा मन धीरे-धीरे जिस स्वप्न जगत का निर्माण करने लगता है उससे मेरे जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति होती रहती है।

आप सोचेंगे कि मैं कैसा निकम्मा और आलसी जीवन व्यतीत करता हूँ जो बाह्य जीवन के आर-पार व्यापी यथार्थ से अपने को वंचित अथवा विरक्त कर अपनी चेतना को स्वप्नों के झूठे सम्मोहन में लिपटाये हुए रूमानी वातावरण के नशे में डूबा रहता हूँ। पर बात ठीक ऐसी नहीं है। वास्तव में बाहर और भीतर की दुनियाँ दो अलग दुनियाँ नहीं हैं। केवल यथार्थ का मुख देखते रहने से ही जीवन के सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता, और जो स्वप्न है उसे केवल असत्य कह कर ही नहीं उड़ाया जा सकता। स्वप्न से मेरा क्या अभिप्राय है यह आप समझ रहे होंगे। वह नींद में पगी अलस पलकों का खुमार नहीं बल्कि सतत जागरूक दृष्टि का नशा है। कोई यथार्थ से जूझ कर सत्य की उपलब्धि करता है और कोई स्वप्नों से लड़कर। यथार्थ और स्वप्न दोनों ही मनुष्य की चेतना पर निर्मम आघात करते हैं, और दोनों ही जीवन की अनुभूति को गहन गभीर बनाते हैं। तो, मैं स्वप्न का स्वर्ण कपाट खोलकर जीवन के मर्म की ओर बढ़ा हूँ, जो स्थूल यथार्थ के लौह कपाट से कहीं निर्मम तथा कठोर होता है क्योंकि वह सूक्ष्म, मोहक तथा अर्ध प्रकट होता है।

संसारी लोग मुझ जैसे व्यक्तियों पर मन ही मन हँसते हैं क्योंकि इतर-जन जीवन की जिन परिस्थितियों का सामना सहज रूप से बिना नाक भौंह सिकोड़े कर सकते हैं उनसे मैं बार-बार क्षुब्ध तथा विचलित हो उठता हूँ। जीवन में सुख दुख, दैन्य संपदा, रोग व्याधि, तथा कुरूपता कठोरता उन्हें अत्यन्त स्वाभाविक तथा जीवन के अनिवार्य अंग सी जान पड़ती हैं, और इन सब विरोधों या द्वन्द्वों को वे भाग्य की कभी न भरने वाली टोकरी में डालकर संतोष ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु मुझ जैसे व्यक्ति के लिए जीवन के तथाकथित यथार्थ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है। मेरी आँखों के सामने जीवन का एक विशिष्ट विधान, एक पूर्णतम मूर्ति रहती है। मेरा मन मानव जीवन का उद्देश्य जानना चाहता है वह उसकी तह तक पैठ कर उसे नये रूप में सँजोना

चाहता है और ध्येय की खोज में अनेक प्रकार के प्रश्नों, समस्याओं तथा कार्य कारण भावों की, गुत्थियों में उलझा रहता है। जीवन के यथार्थ को अपने विश्वासों के अनुकूल बनाने के बदले उसके सामने मूक भाव से मस्तक नवाने की नीति को वह किसी तरह अङ्गीकार नहीं करना चाहता। वह अपने व्यक्तिगत सुख दुख की भावनाओं में आत्म संयम तथा साधना द्वारा संतुलन स्थापित कर सामाजिक यथार्थ को आदर्श की ओर ले जाने में विश्वास करता है। इसीलिए यदि वह यथार्थ की तात्कालिक कुरूपता को उतना महत्व न देकर, उससे आँखें हटाकर, तथाकथित स्वप्न जगत में उसके आदर्श रूप को निरूपित करने में व्यग्र रहता है तो वह निष्क्रिय या आलसी जीवन नहीं व्यतीत करता।

स्वप्न द्रष्टा या निर्माता वही हो सकता है जिसकी अंतर्दृष्टि यथार्थ के अंतस्तल को भेदकर उसके पार पहुँच गई हो, जो उसे सत्य न समझ कर केवल एक परिवर्तनशील अथवा विकासशील स्थिति भर मानता हो। विचारकों ने जीवन का कुछ भौतिक बौद्धिक मान्यताओं तथा नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों में विश्लेषण संश्लेषण कर उसे सिद्धान्तों में जकड़ दिया है। मनुष्य की चेतना उन जटिल, दुरूह मूल्यांकनों को आर पार न भेद सकने के कारण उन्हीं की परिधि के भीतर घूम फिर कर, उनकी बालू की सी चकाचौंध में खो जाती है। किन्तु जीवन के मूल इन सब से परे हैं। वह अपने ही में पूर्ण है, क्योंकि वह सृजनशील तथा विकासशील है। मनुष्य द्वारा अनुसंधानित समस्त नियम तथा मान्यताएँ उसके छोटे-मोटे अंग तथा जीवन की अभिव्यक्ति के बनते मिटते हुए पदचिह्न भर हैं। वह आत्म सृजन के आनन्द तथा आवेश में अपनी अभिव्यक्ति के नियमों को अतिक्रम कर अपनी सांप्रत पूर्णता को निरन्तर और भी बड़ी पूर्णता में परिणत करता रहता है।

हमारा युग जैसे लाठी लेकर आदर्श के पीछे पड़ा हुआ है। वह यथार्थ के ही रूप में जीवन के सुख को पहचानना चाहता है, और उसी को गढ़ कर, बदल कर मनुष्य को उसके अनुरूप ढालना चाहता है। यह मनुष्य नियति का शायद सबसे बड़ा व्यंग्य है और यह ऐसा ही है जैसे मैं अपनी प्रतिकृति को बदल कर अपने को बदलना चाहूँ अथवा अपनी वेशभूषा बदल लेने से अपने को भी

बदला हुआ समझ लूँ। आज का मनुष्य इसीलिये यथार्थ की समस्त कुरूपता से समझौता कर, उसे आत्मसात् कर, उससे उसी के स्तर पर जूझ रहा है। "ए टूथ फॉर ए टूथ" का प्राकृत आदिम संस्कार आज उसके लिये सर्वोपरि सत्य बन गया है, और दलदल में फँसे हुए हाथी की तरह मानव अस्तित्व युग के कर्दम कल्मप में लिपटता हुआ स्वयं भी कुरूप तथा कुत्सित बनता जा रहा है।

यथार्थ का दर्पण जिस प्रकार जगत की बाह्य परिस्थितियाँ हैं उसी प्रकार आदर्श का दर्पण मनुष्य के भीतर का मन है। यदि वह उस पर केवल यथार्थ की ही छाया को घनीभूत होने देगा तो वह यथार्थ के भीपण बोझ से दबकर उसी की तरह कुरूर तथा बौना हो जाएगा। यदि वह आदर्श और यथार्थ को दो आमूल भिन्न, स्वतंत्र तथा कभी न मिल सकने वाली इकाइयाँ मानेगा तो वह उनके निर्मम पाटों के बीच पिस जाएगा। यदि वह यथार्थ को आदर्श के अधीन रख कर उसे आदर्श के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करेगा तो वह यथार्थ पर विजयी होकर मानव जीवन के विकास में सहायता पहुँचा सकेगा।

जिस प्रकार आज का युग आदर्श से विमुख है उसी प्रकार वह व्यक्ति के प्रति विरक्त है। वह केवल समाज और सामूहिकता का अनुयायी है। वह व्यक्ति को समाज की भारी भरकम निष्प्राण मशीन का कल पुरज़ा बना देना चाहता है। अंतर्जीवी व्यक्ति की जो महान् सामाजिकता रूपी बाह्य देन है वह मनुष्य की आत्मा को उसके अधीन रख कर चलाना चाहता है। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई मूल जल स्रोत की धारा को बन्द कर उसे उसी के प्रवाह से एकत्रित हुए तालाब के पानी में डुबा देना चाहे। ऐसी अनेक प्रकार की असंगतियाँ आज के युग में मेरे समान अंतर्मुख प्राणी को अधिकाधिक चिन्तनशील बनाती जाती हैं, जिसे मैं युग का ऋण समझ कर चुकाने का प्रयत्न करता हूँ।

वैसे मैं जीवनी शक्ति को अपने में संपूर्ण मानता हूँ, जिसका प्रकाश भीतर है, छायाभास बाहर : जिसका केन्द्र मनुष्य के अंतरतम में है, बाह्य परिधि विशाल मानव समाज में : जिसका सत्य अंतर्मुखी है : प्रसार तथा नियमों में बँधा तथ्य बहिर्मुखी। जो मन तथा आत्मा से परिचालित होने पर भी उनके अधीन नहीं है। मन तथा आत्मा की इकाइयाँ जीवन के सत्य से ऊँची हो सकती हैं,

किन्तु उससे अधिक समृद्ध तथा परिपूर्ण नहीं,—जीवन, जो भगवत् करुणा का वरदान स्वरूप, उनके आनन्द इंगित से चालित, उनकी मनोहर लीला का विकासशील उपक्रम स्वरूप है। विकसित मनुष्य सृजनशील अंतःस्थित प्राणी होता है, न कि तर्क बुद्धि में अवसित बाह्य परिस्थिति जीवी व्यक्ति : वह जीवन की अखंडनीय एकता से संयुक्त होता है, न कि उसके चंचल वैचित्र्य में खोया हुआ। वह द्रष्टा होता है, न कि कोरा विचारक और चिन्तक : वह इंद्रियों के स्वामी की तरह प्रकृति का उपभोग करता है, न कि उनका दास बनकर प्रकृति के हाथ का खिलौना बना रहता है। विकसित मनुष्य, वह जीवनी शक्ति का प्रतिनिधि होता है...जीवनी शक्ति...जो अंततः सच्चिदानन्दमयी दिव्य प्रकृति है।

एवमस्तु

---

# भारतीय संस्कृति क्या है ?

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं जब भिन्न-भिन्न देशों के लोग एक नवीन धरती के जीवन की कल्पना में बँधने जा रहे हैं। जब मनुष्य जाति अपने पिछले इतिहास की सीमाओं को अतिक्रम कर नवीन मनुष्यता के लिए एक विशाल प्रांगण का निर्माण करने के प्रारंभिक प्रयत्न कर रही है और जब विभिन्न संस्कृतियों के पुजारी परस्पर निकट संपर्क में आकर एक दूसरे को नए ढंग से पहचानने तथा आपस में घुलमिल जाने के लिए व्याकुल हैं। ऐसे युग में, जब कि मनुष्य के भीतर विराट् विश्व संस्कृति की भावना हिलोरें ले रही है, "वसुधैव कुटुंबकम्" की घोषणा करने वाली भारतीय संस्कृति के प्रश्न पर विचार विवेचन करना असामयिक तथा अप्रासंगिक नहीं होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति के भीतर वास्तव में विश्व संस्कृति के गहन मूल्य तथा व्यापक उपादान यथोचित रूप से वर्तमान हैं।

भारतीय संस्कृति के सम्बंध में आज हमारे नव शिक्षितों के मन में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं और विचारशील लोग भी अनेक कारणों से भारतीय संस्कृति का उचित मूल्यांकन करने की ओर विशेष अभिरुचि तथा आग्रह प्रकट करते नहीं दिखाई देते हैं। इसके मुख्य कारण यही हो सकते हैं कि राजनीतिक पराधीनता के कारण हमारी संस्कृति के ढाँचे में अनेक प्रकार की दुर्बलताएं, असुंदरताएं तथा विचार सम्बंधी क्षीणताएं आ गई हैं और मध्य युगों से हम प्रायः लौकिक जीवन के प्रति विरक्त, परलोक के प्रति अनुरक्त, अंध विश्वासों के उपासक तथा रूढ़ि रीतियों के दास बन गए हैं। मध्य युग भारतीय संस्कृति के ह्रास का युग रहा है जिसके प्रमुख लक्षण हमारी आत्म पराजय, सामाजिक असंगठन तथा हमारे मानसिक विकास का अवरोध रहे हैं। इसके अतिरिक्त हमारे विचारकों तथा विवेचकों का मस्तिष्क पाश्चात्य विचार धारा से इतना अधिक प्रभावित तथा आक्रांत रहा है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रति

पश्चिम के समीक्षकों के छिछले तथा भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण को अक्षरशः सत्य मान लिया है, जिससे अपनी संस्कृति के प्रति उनकी भावना आहत तथा विवेक कुंठित हो गया है। फलतः आज हमारा नव शिक्षित समुदाय भारतीय संस्कृति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा है और पश्चिमी विचारों तथा रहन-सहन का थोथा अनुकरण कर अति आधुनिकता के हँसमुख अंधकार से भरे हुए गहरे गर्त की ओर अग्रसर हो रहा है।

ऐसा क्यों हो गया है, पश्चिमी विचारधारा की क्या विशेपताएं हैं और उसके आकर्पण के क्या कारण हैं, पहिले हम इस पर विचार करेंगे।

पश्चिमी विचारधारा की मुख्य दो विशेषताएं हैं जिनके कारण वह युग-युग से पराधीन तथा जीवन विमुख भारतीय शिक्षित समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर सकी है। उसकी पहिली विशेपता है उसका जीवन सम्बंधी दृष्टिकोण। पश्चिमी विचारधारा जीवन के प्रति अपने मोह को कभी नहीं भुला सकी है। उसने जीवन की कल्पना को मानव हृदय के समस्त रस से सींच कर तथा रंगीन भावनाओं में लपेट कर उसे मन की आँखों के लिए सदैव मोहक बना कर रखा है। जीवन के क्षेत्र का त्याग कर या उससे ऊपर उठकर मन की अंतरतम गुहा में प्रवेश करना अथवा आत्मा के सूक्ष्म रुपहले आकाश में उड़ना उसने कभी अंगीकार नहीं किया है। और भारतीय विचारधारा के प्रति उसके विरोध का एक यह भी मुख्य कारण रहा है कि उसने मात्र जीवन के सतरंगी कुहासे को उतना अधिक महत्व नहीं दिया है, वल्कि, उसे माया कह कर एक प्रकार से उसकी ओर निरुत्साह ही प्रकट किया है।

दूसरी विशेपता पश्चिमी विचारधारा की यह रही है कि उसने तर्क बुद्धि के मूल्यांकन को आँखों से कभी ओझल नहीं होने दिया है। उसने तर्क बुद्धि की सफलता को उसकी सामाजिक तथा लौकिक उपयोगिता में माना है और उसका प्रयोग ऐहिक, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सुख की अभिवृद्धि के लिए किया है। पश्चिमी संस्कृति तर्क बुद्धि से इतनी अधिक प्रभावित रही है कि उसने धीरे-धीरे धर्म को भी उसके सूक्ष्म रहस्यमय तत्त्वों से विमुक्त कर उसे अधिकाधिक लौकिक तथा उपयोगी बनाने की चेष्टा की है और धार्मिक प्रतीकों अथवा प्रती-

कात्मक रूढ़ि रीतियों को केवल अंधविश्वास कह कर, धर्म को कुछ लौकिक तथा जीवनोपयोगी नैतिक नियमों के संयोजन में सीमित कर दिया है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर जन साधारण के लिए पश्चिम में धर्मानुराग का अर्थ केवल व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी नैतिकता ही से रहा है। और भारतीय संस्कृति के प्रति पश्चिम के विचारकों का एक यह भी आक्षेप रहा है कि उसमें नैतिकता सदाचार अथवा पाप पुण्य की भावना पर उतना ज़ोर नहीं दिया जाता है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी विचारकों ने भारतीय संस्कृति पर केवल ऊपर ही ऊपर सोच विचार किया है। और इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति सदैव से उच्च से उच्चतम नैतिकता, सदाचार, आदर्शों तथा उदात्त व्यक्तित्वों की पोषक रही है। किंतु वह नैतिकता तक ही कभी सीमित नहीं रही है, मन के आध्यात्मिक आरोहण के लिए नैतिकता एक आवश्यक उच्च सोपान मात्र रही है। पश्चिमी संस्कृति आध्यात्मिकता को आध्यात्मिकता के लिए कभी पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकी। जीवन के क्षेत्र में दृढ़ चरण रखे हुए वह आध्यात्मिक स्फुरणों के सौन्दर्य, माधुर्य तथा आनंद की केवल प्रशंसक मात्र रही है और आध्यात्मिक ऐश्वर्य का उपयोग उसने जीवन का भार वहन करने भर को किया है।

भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र आध्यात्मिकता रहा है और आध्यात्मिकता भी केवल आध्यात्मिकता के लिए। न धनं न जनं न च कामिनी के लिए, जो कि ऐहिक जीवन के अत्यंत आवश्यक उपादान हैं। किंतु इस प्रकार की आध्यात्मिकता का हम क्या अभिप्राय समझें ? इससे हमें यही समझना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने मनुष्य के अस्तित्व का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है। उसने उसके मर्त्य तथा जीव रूप को ही सन्मुख रख कर उसके लिए जीवन धर्म की व्यवस्था नहीं बनाई है बल्कि उसने उसके शाश्वत अमर्त्य रूप की अभिव्यक्ति तथा विकास के लिए भी पथ निर्देश किया है। जो लोग भारतीय दृष्टिकोण के संबंध में केवल बाहरी ज्ञान रखते हैं उन्हें इसमें केवल अनेक संप्रदाय, मत, रूढ़ि रीति, तप और साधना के नियम, योग, दर्शन आदि ऐसी अंध विश्वास पूर्ण पुराणपंथी वस्तुएं मिलती हैं कि वे उनको ऐहिक तथा लौकिक जीवन संबंधी उपयोगिता को यकायक समझ नहीं पाते हैं। हम प्रायः एक जन्म में एक पीढ़ी के, अथवा

अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों के जीवन को देख पाते हैं और वह जीवन वृत्त जिन मान्यताओं, दृष्टिकोणों, अभिरुचियों तथा परिस्थितियों को लेकर चलता है उन्हीं को सत्य मान लेते हैं। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार जीवन तत्व सदैव विकासशील रहा है और व्यक्ति के जीवन की स्थिति केवल बाह्य जीवन ही में नहीं उससे भी ऊपर अथवा परे शाश्वत परात्पर सत्य में मानी गई है। इस शाश्वत जीवन के लिए भारतीय संस्कृति ने अंतर्मुखी पथ निर्धारित किया है। मनुष्य का पूर्ण विकास एक सुख संपन्न पूर्ण सामाजिकता ही में नहीं बल्कि मुक्त शांत आनंदमय अमरत्व की स्थिति प्राप्त करने में माना गया है और ऐसे व्यक्तियों ने जो इस स्थिति को प्राप्त कर सके हैं मानव समाज के समतल सत्य में भी बराबर नवीन मौलिक तथा उच्च गुणों का समावेश किया है। भारतीय संस्कृति जहाँ व्यक्तिवादी है वहाँ उसके लोकोत्तर व्यक्तित्व की रूप रेखाएं ईश्वरत्व में मिल जाती हैं। किंतु यह कहना मिथ्या आरोप होगा कि भारतीय संस्कृति केवल व्यक्तिवादी ही रही है। उसने सामाजिक तथा लौकिक जीवन के महत्व को भी उसी प्रकार समझने की चेष्टा की है। और भिन्न भिन्न युगों की परिस्थितियों के आधार पर उसने अत्यंत उर्वर तथा उन्नत सामाजिक जीवन के आदर्श सामने रखे हैं और उन्हीं के अनुरूप लोक जीवन का निर्माण करने में भी वह अत्यंत सफल रही है। धर्म अर्थ काम सभी दिशाओं में उसका विकास तथा विस्तार अन्य संस्कृतियों की तुलना में अतुलनीय रहा है। उसके वर्णाश्रम की मौलिक व्यवस्था भी जीवन की सभी स्थितियों को सामने रखकर बनाई गई थी, अब भले ही अपने ह्रासयुग में उसका स्वरूप विकृत हो गया हो।

किंतु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि बाह्य जीवन की खोज तथा विजय में पश्चिमी प्रतिभा की विश्व सभ्यता को सबसे बड़ी देन रही है। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य मुख्यतः अंतर्जगत की खोज तथा उपलब्धि रही है और निःसंदेह भारतवर्ष अंतर्जगत का सर्व श्रेष्ठ तथा सिद्ध वैज्ञानिक रहा है।

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं जब कि पूर्व और पश्चिम एक दूसरे की ओर बाँहें बढ़ाकर एक नवीन मानवता के वृत्त में बँधने जा रहे हैं। आज की जीवन चेतना को पूर्व और पश्चिम में, ज्ञान और विज्ञान में, या

आध्यात्मिकता और भौतिकता में बाँटकर कुंठित करना भविष्य की ओर आँखें बंद कर चलने के समान है। और इसी प्रकार भारतीय संस्कृति या पश्चिमी संस्कृति की दृष्टि से आज की मानवता के मुख को पहचानना, उसके लिए अन्याय करना है।

मनुष्य का भूत और वर्तमान ही उसे समझने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। भावी आदर्श पर बिम्बित उसका चेहरा इन सबसे अधिक यथार्थ और इसी लिए अधिक सुंदर तथा उत्साह जनक है।

यदि पिछले युगों में, और आज भी, पश्चिम की सभ्यता तथा संस्कृति अधिक जीवन सक्रिय, क्षुब्ध, तथा संघर्ष प्रिय रही हैं और भारतवर्ष की संस्कृति अधिक अंतश्चेतन, प्रशांत, अहिंसात्मक तथा बाहर से अल्प क्रियाशील अथवा जीवन अक्षम; अगर पश्चिम की संस्कृति बहिर्जड़ प्रकृति पर और पूर्व की अंतः प्रकृति पर विजयी हुई है, अगर पश्चिम की संस्कृति ने बाह्य का, वस्तु का, विविध का या वैचित्र का और भारतीय संस्कृति ने अंतस् का, एकता का, केवल का या परम का अधिक अध्ययन मनन तथा चिंतन किया है तो आने वाली विश्व सभ्यता और मानव संस्कृति अपने निर्माण में इन दोनों का उपयोग कर अधिक सुंदर स्वस्थ संपन्न तथा भावी मानवता की एकता में नवीन विविधता और उसके पिछले संस्कारों की विविधता में नवीन एकता के दर्शन कर एक ऐसे व्यापक संस्कृति के वृत्त में प्रवेश कर सकेगी जो भारतीय भी होगा और पश्चिमी भी, और इन दोनों को आत्मसात् और अतिक्रम कर इनसे कहीं अधिक महत्, मोहक, मानवीय तथा अपनी पूर्णकाम लौकिकता में अलौकिक भी।

# भाषा और संस्कृति

आजकल जो अनेक समस्याएं हमारे देश के सामने उपस्थित हैं उनमें भाषा का प्रश्न भी अपना विशेष महत्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओं में किसी न किसी रूप में इसकी चर्चा होती रहती है और इस संबंध में अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विवादपूर्ण पहलू लोगों के सामने आ गए हैं और उन पर यथेष्ट प्रकाश भी डाला जा चुका है।

इस समय हमें अत्यंत धीरज, साहस तथा सद्भाव से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुंजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यंत सबल साधनों में से है। विश्व-मानवता का मानसिक संगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। भाषा हमारे मन का परिधान या लिबास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारों आदर्शों, सत्य मिथ्या के मानों तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलता पूर्वक व्यक्त कर एक दूसरे के मन में वाहित करते हैं। भाषा, संस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावज सत्य नहीं, एक संगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वरूप संगठित नहीं होता तो हम जो कुछ शब्द ध्वनियों या लिपि-संकेतों द्वारा कहते हैं, और अपनी चेतना के जिन सूक्ष्म भावों का अथवा मन के जिन गुणों का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहते हैं वह सब संभव तथा सार्थक नहीं होता।

इस दृष्टिकोण से जब हम अपने युग तथा देश की परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो हमें यह समझने में देर नहीं लगती कि अपने देश की जनता में उसके विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए तथा अपने राष्ट्रीय जीवन को सशक्त, संयुक्त एवं संगठित बनाने के लिए हमें एक भाषा के माध्यम की नितांत आवश्यकता है, जिसका महत्व किसी भी दूसरे तर्क या विवाद से घटाया नहीं जा सकता। यह ठीक है कि हमारी सभी प्रांतीय भाषाएं यथेष्ट उन्नत हैं, उनका साहित्य पर्याप्त विकसित है और वे अपने प्रांतों के राज-काज को सँभाल सकती हैं। किंतु राष्ट्रभाषा के प्रचार तथा अभ्युदय से

प्रांतीय भाषाओं के विकास में किसी प्रकार की क्षति या बाधा पहुँच सकती है इस प्रकार का तर्क समझ में नहीं आता। वास्तव में राष्ट्रभाषा या एक भाषा का प्रश्न अगली पीढ़ियों का प्रश्न है। आज की पीढ़ी के हृदय में मध्ययुगों की इतनी विकृतियाँ और संकीर्णताएँ अभी अवशेष हैं कि हम छोटे-मोटे गिरोहों, संप्रदायों, वादों और मतों में बँटने की अपनी ह्रास युग की प्रवृत्तियों को छोड़ ही नहीं सकते। विदेशी शासन के कारण हमारी चेतना इतनी विकीर्ण तथा पराजित हो गई है कि हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते और अपने स्वार्थों से बाहर, एक सबल संतुलित राष्ट्रीय संगठन के महत्व की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अगली पीढ़ियाँ अपनी नवीन परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय आदर्शों के गौरव के प्रति अधिक जाग्रत् और प्रबुद्ध हो सकेंगी, इसमें संदेह नहीं। उनके हृदयों में अधिक स्फूर्ति होगी, रक्त में नवीन जीवन, तथा प्राणों में अदम्य उत्साह एवं शक्ति। वे अपनी प्रांतीय भाषा के साथ राष्ट्रभाषा के वातावरण में भी बढ़ेंगी और उसे भी आसानी से सीख लेंगी।

आज तक हम सात समुद्र पार की विदेशी भाषा को तोते की तरह रट कर साक्षर तथा शिक्षित होने का अभिमान ढोते आये हैं। तब प्रांतीय भाषाओं के जीवन का प्रश्न हमारे मन में नहीं उठता था। आज जब राजकाज में अंग्रेज़ी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है तब प्रांतीय भाषा-भाषियों का विरोध हठधर्मी की सतह पर पहुँच गया है। धार्मिक सांप्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-सम्बन्धी सांप्रदायिकता के दलदल में डूबने जा रहे हैं!

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रांतीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग बढ़ने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएं तो विशेष रूप से संस्कृत के सौष्ठव, ध्वनि सौन्दर्य तथा उसकी चेतना के प्रकाश से अनुप्राणित तथा जीवित हैं। अगर हम अपनी हठधर्मी से लड़ सकें तो मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों हम आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में एकमत होकर स्वीकार कर उसे वास्तविकता में परिणत न कर सकें। अन्य प्रांतीय भाषाओं की तुलना में राशि (जनसंख्या) तथा गुण (सरलता, सुबोधता, उच्चारण सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का

स्थान विशेष महत्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

हिन्दी उर्दू का प्रश्न प्रादेशिक भाषाओं के प्रश्न से कुछ अधिक जटिल तथा विवादपूर्ण है। एक तो दोनों की जनक-भाषाएं आमूल भिन्न हैं। हिन्दी संस्कृत की संतान है, उर्दू फारसी और अरबी की। फिर अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों में विभक्त हैं, हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोणों में भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया है। फलतः हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न संस्कृतियों की चेतनाओं तथा उपादानों की वाहक मानने लगे हैं। पर यह पुरानी दुनियाँ का इतिहास है। संसार में आज सभी जातियों वर्गों, समूहों या सम्प्रदायों में धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियों का संघर्ष देखने को मिलता है जो आगे चल कर आनेवाली दुनिया में अधिक व्यापक सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक निकट ले आएगा। भिन्न-भिन्न समूहों की अंतश्चेतना के संगठनों में साम्य, सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जाएगी। इसे अनिवार्य तथा अवश्यंभावी समझना चाहिए।

हमें हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आप उत्तर प्रदेश की भाषा कह लें—दो रूप मानने चाहिये। दोनों एक ही जगह फूली-फली हैं। दोनों के व्याकरण में, वाक्यों के गठन, संतुलन तथा प्रवाह आदि में पर्याप्त साम्य है—यद्यपि उनके ध्वनि-सौन्दर्य में विभिन्नता भी है! साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक ही भाषा की दो चोटियाँ हैं, जिनमें से एक अपने निखार में संस्कृत प्रधान हो गई है, दूसरी फारसी-अरबी प्रधान। और उनका बीच का बोलचाल का स्तर ऐसा है जिसमें दोनों भाषाओं का प्रवाह मिलकर एक हो जाता है। हिन्दी उर्दू के एक होने में बाधक वे भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारे धार्मिक, सांप्रदायिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप में हमें विच्छिन्न कर रही हैं। भविष्य में हमारे राष्ट्रीय निर्माण में जो सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ काम करेंगी वह बहुत हद तक इन विरोधों को मिटाकर दोनों संप्रदायों को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व में बाँध देंगी। भीतरी कारण नहीं रहेंगे अथवा पंगु हो जाएँगे।

इस समय हमारा चेतन मानव-प्रयास इस दिशा में केवल इतना ही हो सकता है कि हम दोनों भाषाओं को मिलाने के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकें। वह आधार इस समय स्थूल ही आधार हो सकता है—और वह है नागरी लिपि। सरकार को हिंदी-उर्दू भाषियों के लिए, राज-काज में, एक ही लिपि को स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए। यही नीति हमारे शिक्षा-केन्द्रों की भी होनी चाहिए। हमें इस समय भाषा के प्रश्न को बलपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। केवल लिपि के आधार पर ज़ोर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नागरी लिपि उर्दू से ही नहीं संसार की सभी लिपियों से शायद अधिक सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और उसमें समयानुकूल छोटे-मोटे परिवर्तन आसानी से हो सकते हैं।

भाषा का सूक्ष्म जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने आप कर सकेगा। उसमें आने वाली पीढ़ियाँ अपने जीवन के रक्त से, अपनी प्रीति के आनंद से तथा स्वप्नों के सौंदर्य से सामंजस्य प्रदान कर सकेंगी। वह मेल अधिक स्वाभाविक नियमों से संचालित होगा। आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में दोनों को मिलाने का कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न कर रहे हैं। यह हमें कहीं नहीं ले जाएगा। क्योंकि ऐसे सचेष्ट प्रयत्न किन्हीं आंतरिक नियमों के आधार पर ही सफल हो सकते हैं। ऐसे बाहरी प्रयत्नों से हम भाषा का व्यक्तित्व, उसका सौष्ठव तथा सौंदर्य बनाने के बदले बिगाड़ ही देंगे। भारतवर्ष के अन्य प्रांतों की भाषाओं के जीवन को सामने रखते हुए मैं सोचता हूँ हिंदी-उर्दू का मेल संस्कृत के ध्वनि-सौंदर्य, रुचि-सौष्ठव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा, जिसमें अधिकाधिक मात्रा में बोलचाल के लोक प्रचलित तद्भव शब्दों का समावेश किया जा सकता है। किंतु सचेष्ट प्रयत्नों के अलावा भाषा का अपना भी जीवन होता है और आनेवाली पीढ़ियाँ नवीन विकसित परिस्थितियों के आलोक में भाषा को किस प्रकार सँवारेंगी यह अभी किसी गणित के नियम से नहीं बतलाया जा सकता।

---

# सांस्कृतिक आंदोलन

आज का विषय है : सांस्कृतिक आन्दोलन,—क्यों, कैसा—इससे हमारा अभिप्राय है, क्या हमें एक सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है ? इस युग में जिस प्रकार राजनीतिक, आर्थिक आन्दोलन लोक-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे हैं क्या हमें उसी तरह एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी चाहिए, जो हमारे युग की समस्याओं का समाधान करने में सहायक हो ? और अगर चाहिए तो उसके आधार क्या हों, उसे किन मान्यताओं को अपना-कर चलना चाहिए ?

शायद 'आन्दोलन' शब्द हमारे अभिप्राय को प्रकट करने के लिए अधिक उपयुक्त नहीं। वह आज के संघर्षपूर्ण वातावरण में अधिक आन्दोलित लगता है। हमें कहना चाहिए शायद 'संचरण'—सांस्कृतिक संचरण, जिससे सृजन और निर्माण कि ध्वनि अधिक स्पष्ट होकर निकलती है।—बाहरी दृष्टि से देखने में उपर्युक्त विषय—सांस्कृतिक आन्दोलन,—क्यों, कैसा ?—ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग यहाँ किसी प्रकार का बौद्धिक व्यायाम करने के लिए अथवा तार्किक दाँव-पेंच दिखाने के लिए एकत्र हुए हैं। पर ऐसा नहीं है। मेरा विनम्र विचार है कि हमें संस्कृति जैसी महत्वपूर्ण वस्तु को, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तरतम विश्वासों, श्रद्धाओं, आदर्शों, तथा सत्य शिव और सुन्दर के सिद्धान्तों से है—केवल मन या बुद्धि के धरातल पर ही नहीं परखना चाहिए। उसका सम्बन्ध मनुष्य की अन्तर्चेतना से, उसकी गम्भीरतम अनुभूतियों, उसके अन्तर्मन के सहजबोध तथा रहस्य प्रेरणाओं से भी है। हम मनुष्य के मन और बुद्धि की सीमाओं से अच्छी तरह परिचित हैं। संस्कृति क्या है, इस पर एक महान ग्रंथ ही लिखा जा सकता है और फिर भी उसके साथ यथेष्ट न्याय नहीं हो सकता। अभी मैं अन्तर्चेतना, अन्तर्विश्वास और सहजबोध के बारे में जो कह चुका हूँ उनके अस्तित्व के बारे में भी कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

संस्कृति के आधारों तथा मान्यताओं की बात भी मुझे कुछ ऐसी ही लगती है। बुद्धि का प्रकाश तो किसी हद तक सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर डाला जा सकता है, पर हमें बुद्धि के निर्णय को आख़िरी हद या अन्तिम सीमा नहीं मान लेनी चाहिए। उससे भी प्रबल और पूर्ण साधन मनुष्य के भीतर ज्ञान प्राप्ति अथवा सत्य बोध के लिए बतलाए जाते हैं।

मेरे विचार में किसी भी सांस्कृतिक आन्दोलन या सांस्कृतिक संस्था का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह मनुष्य की सृजनशील प्रवृत्ति को उसकी बुद्धि के ऊपर स्थान दे और उसे मानव हृदय में जाग्रत कर उसके विकास के लिए उपयुक्त साधन और वातावरण प्रस्तुत करे। जहाँ मनुष्य स्वयं स्रष्टा बन जाता है वहाँ उसका अन्तरतम चेतन व्यक्तित्व सक्रिय हो जाता है—उसे सौन्दर्य, आनन्द और तृप्ति का अनुभव होने लगता है। जीवन का अन्धकार और मन का कुहासा छिन्न-भिन्न होने लगता है। वह जीवन और उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसका अपने अनुकूल तथा समाज और युग के अनुरूप निर्माण एवं सृजन करने लगता है। वह प्रकृति और स्वभाव का अंग ही न रह कर उनका द्रष्टा और स्रष्टा भी बन जाता है।

मनुष्य के श्रद्धा, विश्वास तथा भीतरी आस्थाओं के समर्थन में मैं इन थोड़े से शब्दों में संकेत भर कर रहा हूँ। वैसे हमारा युग विज्ञान का युग कहलाता है—जिसका अर्थ है भूत विज्ञान का युग। विज्ञान शब्द मनोविज्ञान, अन्तर्विज्ञान, आत्मविज्ञान आदि जैसे सूक्ष्म दर्शन विषयों के लिए भी प्रयुक्त होता है, लेकिन इस युग में हमने विज्ञान द्वारा चेतना के निम्नतम धरातल पर ही—जिसे पदार्थ या भूत कहते हैं—अधिक प्रकाश डाला है। भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक रासायनिक शक्तियों पर अपना आधिपत्य जमा लिया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव जीवन की भौतिक एव आधुनिक अर्थ में सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय और सशक्त हो गई हैं। जीवन की इन सबल बाह्य गतियों का नए ढंग से संगठन करने के लिए आज संसार में नवीन रूप से राजनीतिक आर्थिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव, लोकशक्तियों का संघर्ष, तथा महायुद्धों का हाहाकार बढ़ रहा है। ये राजनीतिक आर्थिक आन्दोलन

हमारी पार्थिव सत्ता के विप्लव और विस्फोट हैं। वस्तु सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिए इनकी अपने स्थान पर उपयोगिता भी सिद्ध ही है। फलतः आज हमारा पदार्थ जीवन भौगोलिक दृष्टि से, मुख्यतः तीन विभागों में विभक्त हो गया है। एक ओर पूंजीवादी राष्ट्र हैं, दूसरी ओर साम्यवादी रूस, तथा तीसरी ओर हिन्दुस्तान जैसे अन्य छोटे बड़े देश जिनका निर्माणकाल अभी प्रारम्भ ही हुआ है या नहीं हुआ है और जो उपर्युक्त दोनों सशक्त संगठनों के भले-बुरे परिणामों से प्रभावित तथा संत्रस्त हैं। हमें तीसरे विश्वयुद्ध की अस्पष्ट गर्जन अभी से सुनाई देने लगी है जो सम्भवतः अणु-युद्ध होगा।

ऐसी अवस्था में हम अनुभव करते हैं कि मानव जाति को इस महा विनाश से बचाने के लिए हमें आज मनुष्य चेतना के ऊर्ध्व स्तरों को भी जाग्रत तथा सक्रिय बनाना है, जिससे आज की विश्व परिस्थियों में संतुलन पैदा किया जा सके; और लोक-जीवन के इस बहिर्गत प्रवाह के लिए एक अन्तर्मुख स्रोत भी खोलना है जिससे जीवन की मान्यताओं के प्रति उसका दृष्टिकोण और व्यापक बन सके। आधुनिक भौतिकवाद मुझे, मध्ययुगीय भारतीय दार्शनिकों के आत्मवाद की तरह, अपने युग के लिए एकांगी तथा अधूरा लगता है। मानव जीवन के सत्य को अखंडनीय ही मानना पड़ेगा, उसके टुकड़े नहीं किए जा सकते। मैं सोचता हूँ मनुष्य की चेतना सत्ता, मन और पदार्थ के स्तरों में नवीन विश्व परिस्थितियों के अनुरूप समन्वय एवं संतुलन स्थापित करने के उद्देश्य से जो भी प्रयत्न सम्भव हों उन्हें हमें नवीन सांस्कृतिक संचरण के रूप में ही अग्रसर करना होगा। क्योंकि संस्कृति का संचरण न राजनीति की तरह समतल संचरण है न धर्म और अध्यात्म की तरह उर्ध्व संचरण। वह इन दोनों का मध्यवर्ती पंथ है और मानव जीवन की बाहरी और भीतरी दोनों गतियों, प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं का उसमें समावेश रहता है। मनुष्य की सृजनात्मिका वृत्ति को उसमें अधिक सम्पूर्ण प्रसार मिलता है।

ऐसे आन्दोलन द्वारा हम पिछले धर्मों, आदर्शों, और संस्कृतियों में अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित मानव चेतना के अन्तर-सौंदर्य को अधिक परिपूर्ण रूप से प्रस्फुटित कर सकेंगे, और उसे जाति श्रेणी सम्प्रदायों से मुक्त एक नवीन

मानवता में ढाल सकेंगे। जहाँ तक मान्यताओं का प्रश्न है मेरी समझ में मानवीय एकता ही हमारे जीवन-मानों की आधार बननी चाहिए। जो आदर्श अथवा विचार-धाराएँ मनुष्य की एकता के विरोधी हों या उसके पक्ष में बाधक हों उनका हमें परित्याग करना चाहिए, और जो उसकी सिद्धि में सहायक हों उनका पोषण करना चाहिए। मानव एकता के सत्य को हम मनुष्य के भीतर से ही प्रतिष्ठित कर सकते हैं, क्योंकि एकता का सिद्धांत अन्तर्जीवन या अन्तर्चेतना का सत्य है। मनुष्य के स्वभाव, मन और बहिर्जीवन में सदैव ही विभिन्नता का वैचित्र्य रहेगा। इस प्रकार हम भिन्न जातियों और देशों की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी मनुष्य को एक आन्तरिक एकता के स्वर्णपाश में बाँध सकेंगे। आज के विरोधों से रहित एक अन्तःसंगठित मनुष्यता का निर्माण कर सकेंगे जिसके चेतना, मन और प्राणों के स्तरों में अधिक सम्पूर्ण संतुलन होगा। जो अन्तर्जीवन की अभीप्साओं और बहिर्जीवन के उपभोग में एकांत समन्वय स्थापित कर सकेगी और जिसका दृष्टिकोण जीवन की मान्यताओं के प्रति अधिक ऊर्ध्व, व्यापक तथा गम्भीर हो जाएगा।

---

# सांस्कृतिक चेतना

## (अभिभाषण का अंश)

आज जब साहित्य, संस्कृति तथा कला की अन्तःशुभ्र सूक्ष्म पुकारें बाह्य जीवन के आडम्बर तथा राजनीतिक जीवन के कोलाहल में प्रायः डूब-सी रही हैं, आप लोगों का इस सांस्कृतिक समारोह में सम्मिलित होना विशेष महत्त्व रखता है। इससे हमें जो आशा, उत्साह, जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिल रही है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। आप का अमूल्य सहयोग मनुष्य की उस अन्तर्जीवन की आकांक्षा का द्योतक है, जिसके अभाव में आज के युग की बाहरी सफलता अपने ही खोखलेपन में अधूरी तथा असम्पूर्ण रह गई है।

किसी भी देश का साहित्य उसकी अन्तश्चेतना के सूक्ष्म संगठन का द्योतक है : वह अन्तःसंगठन जीवन-मान्यताओं, नैतिक शील, सौन्दर्य-बोध, रुचि, संस्कार आदि के आदर्शों पर आधारित होता है। आज के संक्रांति काल में जब कि एक विश्वव्यापी परिवर्तन तथा केन्द्रीय विकास की भावना मानव-चेतना को चारों ओर से आक्रांत कर उसमें गम्भीर उथल-पुथल मचा रही है, किसी भी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक संस्था का जीवन कितना अधिक कंटकाकीर्ण तथा कष्टसाध्य हो सकता है, इसका अनुमान आप-जैसे सहृदय मनीषी एवं विद्वान सहज ही लगा सकते हैं। इन आधिभौतिक, आधिदैविक कठिनाइयों को सामने रखते हुए मेरा यह कहना अनुचित न होगा कि यह सांस्कृतिक आयोजन आज के युग की उन विराट् स्वप्न-संभावनाओं के स्वल्प समारंभों में से एक है, जो आज पिछली संध्याओं के पलनों में झूलती हुई अनेक दिशाओं में, अनेक प्रभातों की नवीन सुनहली परछाँइयों में जन्म ग्रहण करने का तुच्छ प्रयास कर रही हैं। ऐसे समय हम अपने गुरुजनों का आशीर्वाद तथा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं। अपने समवयस्कों तथा सहयोगियों से स्नेह और सद्भाव चाहते हैं, जिससे हम अपने महान् युग के साथ पैंग भरते हुए आने वाले क्षितिजों के प्रकाश को छू सकें। आप-जैसे विद्वद्जनों के साथ हमें विचार-विनिमय तथा साहित्यिक आदान-प्रदान करने का अपूर्व संयोग मिल सके, यही हमारे इस अनुष्ठान का उद्देश्य, इस साहित्यिक पर्व का अभिप्राय है। जिसमें

हम अपने समवेत हृदय-स्पन्दन में पिछले युगों की चेतना को थपकी देते हुए और अपनी सांस्कृतिक शिराओं में नवीन युग की गत्यात्मकता को प्रवाहित करते हुए, अपने सम्मिलित व्यक्तित्व में पिछले आदर्शों का वैभव तथा नवीन जागरण के आलोक को मूर्तिमान करने का प्रयत्न करना चाहते हैं।

आज के साहित्यिक अथवा कलाकार की बाधाएँ व्यक्तिगत से भी अधिक उसके युग पथ की बाधाएँ हैं। आज मानव-जीवन बहिरंतर की अव्यवस्था तथा विशृंखलता से पीड़ित है। हमारा युग केवल राजनीतिक-आर्थिक क्रांति का ही युग नहीं, वह मानसिक तथा आध्यात्मिक विप्लव का भी युग है। जीवन-मूल्यों तथा सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति ऐसा घोर अविश्वास तथा उपेक्षा का भाव पहिले शायद ही किसी युग में देखा गया हो। वैसे सभ्यता के इतिहास में समय-समय पर अनेक प्रकार के राजनीतिक तथा आध्यात्मिक परिवर्तन आए हैं, किन्तु, वे एक दूसरे से इस प्रकार संबद्ध होकर शायद ही कभी आए हों। आज के युग की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चेतनाएँ धूप-छाँह की तरह जैसे एक दूसरे से उलझ गई हैं। मानव-चेतना की केन्द्रीय धारणाओं तथा मौलिक विश्वासों में शायद ही कभी ऐसी उथल-पुथल मची हो। आज विश्व-सत्ता की समस्त भीतरी शक्तियाँ तथा बाहरी उपादान परस्पर विरोधी शिविरों में विभक्त होकर लोक-जीवन के क्षेत्र में घोर अशान्ति तथा मानवीय मान्यताओं के क्षेत्र में विकट अराजकता फैला रहे हैं। आज अध्यात्म के विरुद्ध भौतिकवाद, ऊर्ध्वचेतन अति-चेतन के विरुद्ध उपचेतन अवचेतन, दर्शन के विरुद्ध विज्ञान, व्यक्तिवाद के विरुद्ध समूहवाद एवं जनतंत्र के विरुद्ध पूँजीवाद खड़े होकर मानवजीवन में एक अधिविश्व-क्रांति तथा अंतर्गत असंगति का आभास दे रहे हैं। मनुष्य का ध्यान स्वतः ही एक व्यापक अन्तर्मुख विकास तथा बहिर्मुख समन्वय की ओर आकृष्ट हो रहा है। आज मनुष्य की चेतना नए स्वर्गों, नए पातालों तथा नई ऊँचाइयों नई गहराइयों को जन्म दे रही है। पिछले स्वर्ग-नरक, पिछली पाप-पुण्य तथा सद्-असद् की धारणाएँ एक दूसरे से टकराकर विकीर्ण हो रही हैं। आज मनुष्य की अहंता का विधान अपने ज्योति-तमस् के ताने-बाने सुलझाकर विकसित रूप धारण कर रहा है। मानव-कल्पना नवीन चेतना के सौन्दर्य-बोध को ग्रहण करने

की चेष्टा कर रही है। ऐसे महान् युग में जब एक नवीन सांस्कृतिक संचरण-वृत्त का उदय हो रहा है, जब आध्यात्मिकता तथा भौतिकता मानव चेतना में नया सामंजस्य खोज रही हैं, जब आदि ज्योति एवं आदिम अन्धकार, जो अभी जीवन मान्यताओं में नहीं बँध सके हैं, मनुष्य के अन्तर्जगत् में आँख-मिचौनी खेल कर नवीन मूल्यों को अंकित कर रहे हैं, जब चेतना की नवीन चोटियों की ऊँचाइयाँ जीवन को नवीनतम अतल खाइयों में संतुलन भरने की चेष्टा कर रही हैं,—ऐसे युग में सामान्य बुद्धिजीवी तथा सृजनप्राण साहित्यिक के लिए बहिरंतर की इन जटिल गुत्थियों को सुलझाकर नवीन भावभूमि में पदार्पण करना अत्यन्त दुर्बोध तथा दुःसाध्य प्रतीत हो रहा है। इसीलिए आज यदि कोई स्वप्न-स्रष्टा चेतना के ऊर्ध्वमुख रुपहले आकाशों के नीरव प्रसारों में खो गया है तो कोई जीवन के बाह्यतम प्रभावों के सौन्दर्य में उलझकर कला की सतरंगी उड़ानों में फँस गया है।

किन्तु, हम इस प्रकार के वाद-विवादों, अतिवादों तथा कट्टरपंथी संकीर्णताओं के दुष्परिणामों से मुक्त रहकर सहज बोध तथा सहज भावना का पथ पकड़ना चाहते हैं जो व्यापक समन्वय का पथ है। ऐसा समन्वय जो कोरा बौद्धिक ही न हो, किन्तु जिसमें जीवन, मन, चेतना के सभी स्तरों की प्रेरणाएँ सजीव सामंजस्य ग्रहण कर सकें, जिसमें बहिरंतर के विरोध एक सक्रिय मानवीय संतुलन में बँध सकें। हम साहित्यकारों की सृजन-चेतना के लिए उपयुक्त परिवेश का निर्माण करना चाहते हैं, जिससे उनके हृदय का स्वप्न संचरण वास्तविकता की भूमि पर चलना सीख कर स्वयं भी बल प्राप्त कर सके और वास्तविकता के निर्मम कुरूप वक्ष पर अपने पद-चिह्नों का सौन्दर्य भी अंकित कर सके। हम परिस्थितियों की चेतना को अधिकाधिक आत्मसात् कर उसके मुख पर मानवीय संवेदना की छाप लगाने तथा उसे मानवीय चरित्र में ढालने में विश्वास करते हैं।

आज के संक्रांति-युग में हम मानवता के विगत गम्भीर अनुभवों, वर्तमान संघर्ष के तथ्यों तथा भविष्य की आशाप्रद संभावनाओं को साथ लेकर, युवकोचित अदम्य उत्साह तथा शक्ति के साथ सतत जागरूक रह कर, नव निर्माण के पथ पर, सब प्रकार की प्रतिक्रियाओं से जूझते हुए असंदिग्ध गति से बराबर आगे

बढ़ना चाहते हैं, जिसके लिए हमारे गुरुजनों के अशीर्वाद की छत्रच्छाया, तथा सहयोगियों की सद्भावना का संबल अत्यन्त आवश्यक है। जिससे हम सब के साथ सत्य-शिव-सुन्दरमय साहित्य की साधना-भूमि पर, ज्योति-प्रीति-आनन्द की मंगलवृद्धि करते, सुन्दर से सुन्दरतर एवं शिव से शिवतर की ओर अग्रसर होते हुए, निरन्तर अधिक से अधिक प्रकाश, व्यापक से व्यापक कल्याण तथा गहन से गहन सत्य का संग्रह करते रहें।

हिन्दी हमारे लिये नवीन संभावनाओं की चेतना है, जिसे वाणी देने के लिये हमें सहस्रों स्वर, लाखों लेखनी तथा करोड़ों कंठ चाहिए। उसके अभ्युदय के रूप में हम अपने साथ समस्त मनुष्य जाति का अभ्युदय पहचान सकेंगे। उसके निर्माण में संलग्न होकर हम समस्त लोक-चेतना का निर्माण कर सकेंगे। उसको सँवार-शृंगार कर हम नवीन मानवता के सौंदर्य को निखार सकेंगे। जिस विराट् युग में हिन्दी की चेतना जन्म ले रही है, उसका किंचित् आभास पाकर यह कहना मुझे अतिशयोक्ति नहीं लगता कि हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है। एक महान् अन्तर्मूक संगीत के असंख्य स्वरों की तरह आज हम समस्त साहित्यकारों, कलाकारों तथा सहित्यिक संस्थाओं का हृदय से अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि हमारे प्राणों भावनाओं तथा विचारों का यह मुक्त समवेत आदान-प्रदान युग मानवता के समागम को तथा मानव हृदयों के संगम को अधिकाधिक सार्थकता तथा चरितार्थता प्रदान कर सकेगा।

धरती की चेतना आज नवीन प्रकाश चाहती है, वह प्रकाश मानव आत्मा की एकता का प्रकाश है। धरती की चेतना आज नवीन सौंदर्य चाहती है, वह सौंदर्य मानवचेतना के सर्वांगीण जागरण का सौंदर्य है। धरती की चेतना आज नवीन पवित्रता चाहती है, वह पवित्रता मनुष्य के अन्तर्मुख तप तथा बहिर्मुख साधना की पवित्रता है। धरती की चेतना आज नवीन वाणी चाहती है और वह वाणी मानव उर में विकसित हो रही विश्व-प्रेम की वाणी है। आज की साहित्यिक संस्था मानवता के अन्तरतम सम्मिलन का सृजन-तीर्थ है। इस सृजन-तीर्थ पर एक बार मैं फिर आप मानव-देवों का हृदय से स्वागत करता हूँ।

# कला और संस्कृति

[अभिभाषण का अंश]

मैं स्वतंत्र भारत के नवयुवक कलाकारों का स्वागत करता हूँ। मैं उनकी आँखों में सौन्दर्य के स्वप्न, उनके हृदय की धड़कन में संस्कृत भावनाओं का संगीत और उनके सुंदर मुखों पर मनुष्यत्व के गौरव की झलक देखना चाहता हूँ।

आप बुद्धिजीवी तथा कलाकार हैं। आपका क्षेत्र भीतर का क्षेत्र है, आपको सूक्ष्म का परिचालन करना है। आपको विकसित मस्तिष्क के साथ संस्कृत हृदय की भी आवश्यकता है। विकसित मस्तिष्क से मेरा अभिप्राय युग के प्रति प्रबुद्ध, विश्व जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक मन से हैं; और संस्कृत हृदय से मेरा प्रयोजन उस हृदय से है जिसमें राग-द्वेष आदि जैसी विरोधी वृत्तियों में मनन तथा साधना द्वारा संतुलन आ गया हो तथा जो नवीन सांस्कृतिक चेतना के प्रति उद्बुद्ध हो। ऐसा संतुलन साधारण लोकजीवन से ऊँचे ही स्तर पर स्थापित किया जा सकता है और परिस्थितियों की चेतना से ऊपर उठने के लिए एक कला-जीवी सौन्दर्य स्रष्टा को प्रारंभ में स्वस्थ अभ्यासों, उन्नत संस्कारों एवं विकसित रुचियों के प्रभावों की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के विन्यास में जहाँ मनका स्तर है वहाँ एक प्राणों का भी स्तर है। यह हमारी लालसाओं, आवेगों, प्रवृत्तियों, भावना आशा स्वप्न आदि का स्तर हैं और यही शक्ति का भी स्तर है। महान् कलाकारों में स्वभावतः ही प्राण-शक्ति का अधिक प्रवाह तथा प्रसार देखने को मिलता है। यह प्राण शक्ति शीघ्र ही हमारे अभ्यासों तथा रुचियों का स्वरूप धारण कर लेती है। अतः एक कलाकार के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह किसी मत या वाद के प्रभाव से अथवा तीव्र राग-विराग के कारण विशेष अभ्यासों की सीमाओं के भीतर न बँध जाय। उसे सदैव मुक्त-हृदय, संवेदनशील तथा ग्रहणशील बना रहना

चाहिए और अपने प्राणों के आवेष्टन को परिष्कृत कर उसे सौन्दर्यग्राही, ऊर्ध्व-गामी बनाकर द्वेष-क्रोध आदि की निम्न वृत्तियों से ऊपर उठाना चाहिए। जिससे उसके प्राणों के प्रवाह में एक संगीत, सामंजस्य, तन्मयता, व्यापकता तथा भिन्न स्वभाव धर्मा मानव समूह के प्रति सौन्दर्य का संचार हो सके।

किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौन्दर्य बोध २ )व्यापक गंभीर अनुभूति (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य मिश्रण ही कला वस्तु में लोकोत्तरानंददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमें देखना चाहिए कि कलाकार के सौन्दर्य दर्शन में कितना मार्जन, ऊर्ध्व प्राणता तथा रहस्य संकेत है। वह किसी विशेप रुचि या अभ्यास से तो कुंठित नहीं, और यदि है तो उसका कारण बाह्य उपादानों में है अथवा अंतर के भाव सत्य में। दूसरा हमें देखना चाहिए कि उसकी अनुभूति में कितनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है। उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया है,— भीतर के जिस दर्पण में उसने मावन जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है वह चेतना कितनी सूक्ष्म प्रभावग्राही तथा अतल स्पर्शी है। तीसरा हमें विचार करना चाहिए उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक जीवन की भीतरी बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है कि नहीं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमारे पास तुलसीकृत रामायण है, जो व्यक्ति के अंतरतम विकास में भी, अपने युग की सीमाओं के भीतर, सहायता पहुँचाता है तथा लोक समुदाय को भी बल प्रदान करता है।

किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण, मेरी दृष्टि में, एक और भी वस्तु है जिसके पूरक उपर्युक्त तीनों मान हैं। वह है किसी कलाकृति में पाये जानेवाले सांस्कृतिक तत्व। अर्थात् जो चेतना, जो प्रकाश, जो संस्कार किसी कलाकृति को पढ़ने पर अज्ञात रूप से आपको प्रभावित कर आपका निर्माण करने में सफल होते हैं— जिन सूक्ष्म उपादानों का एक कलाकृति सक्रिय वितरण करती है। आज जब कि हम एक संक्रांति युग के शिखर पर बैठे हैं जिसके अंतस्तल में धरती को आंदो-लित करनेवाली ज्वालामुखी सुलग रही है, हमें संस्कृतिक मान्यताओं के प्रति सबसे अधिक चैतन्य रहना चाहिए। संस्कृति मानव चेतना का सारपदार्थ है,

जिसमें मानव जीवन के विकास का समस्त संघर्ष नाम रूप गुणों के रूप में संचित है। जिसमें हमारी ऊर्ध्वगामी चेतना या भावनाओं का प्रकाश, तथा समतल जीवन की, मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुंफित हैं; जिसमें हमें सूक्ष्म और स्थूल, दोनों धरातलों के सत्यों का समन्वय मिलता है। संस्कृति में हमारी धार्मिक, नैतिक तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों का ही सार भाग नहीं रहता उसमें हमारे सामाजिक जीवन में बरते जाने वाले आचार-विचार एवं व्यवहारों के भी सौन्दर्य का समावेश रहता है। यदि हम सोचते हैं कि हम इसी क्षणसे एक आमूल नवीन संस्कृति को जन्म दे सकते हैं, तो हम ठीक नहीं सोचते। क्योंकि जो सांस्कृतिक चेतना अथवा सौन्दर्य भावना आज हमारे भीतर काम कर रही है उसके ताने बाने में मानव जीवन की सहस्रों वर्षों की अनुभूतियाँ, सुख-दुख, सद्-असद; सत्य-मिथ्या की धारणाएँ, उसका सूक्ष्म ज्ञान जगत्, तथा बहिरंतर का समस्त छाया प्रकाश ग्रथित है। जिस प्रकार भाषा एक संगठित सत्य है उसी प्रकार संस्कृति भी। वह स्वभावजन्य गुण नहीं, विकास क्रम से उपलब्ध वस्तु या सत्य है। मैं कुछ शब्द-ध्वनियों द्वारा, जो हमारी चेतना में सार्थक रूप से संगठित हैं आपके मन में कुछ विचारों, भावनाओं एवं संवेदनों को जगा रहा हूँ। यदि मैं कुछ ऐसी ध्वनियों का प्रयोग करूँ, जिनका हमारे भीतर सार्थक संगठन नहीं हैं, तो आप उनसे कुछ भी अभिप्राय नहीं ग्रहण कर सकेंगे। इसी प्रकार हमारे सांस्कृतिक ज्ञान भी हमारी अंतर्चेतना के संगठित गुण हैं। जो हमें सत्य मिथ्या का मान देते हैं और हमारी शिव-अशिव सुंदर-असुंदर, पाप-पुण्य आदि की भावनाओं से जुड़े हुए हैं। ये सांस्कृतिक मान्यताएँ प्रायः हमारी प्राकृतिक स्वभावज लालसाओं तथा ऐंद्रयिक संवेदनों की विरोधी भी होती हैं, हम इन्हें संस्कार कहते हैं।

आप जिस जाति और जिस देश की भी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करें आपको उसमें अंतःसंगठन के नियम मिलेंगे, और उनमें बाह्य दृष्टि के विभिन्नता होने पर भी एक आंतरिक साम्य तथा सूक्ष्म एकता मिलेगी। विभेदों का कारण देश-काल की परिस्थितियाँ होती हैं और एकता का आधार समान मानवीय अनुभूति का सत्य। समस्त सत्य केवल मात्र मानवीय

सत्य है, उसके बाहर या ऊपर किसी भी सत्य की कल्पना संभव नहीं है। वनस्पति जीवन पशु जीवन से लेकर—जो मनुष्य चेतना से नीचे के धरातल हैं—स्वर्गलोक के देवताओं और उनसे भी परे का ज्ञान विस्तार केवल मानवीय सत्य है। मनुष्य चाहे बाहर जितनी जातियों, धर्मों और वर्गों में विभक्त हो, वह भीतर से एक ही है; इसलिए समस्त मानव जीवन के सत्य को एक तथा अखंडनीय समझना चाहिए।

यद्यपि हम अंतःसंगठन के सत्य में आमूल परिवर्तन नहीं कर सकते, हम उसके विकास के नियमों का अध्ययन कर उसे विशेष युग में विशेष रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकते हैं तथा उसका यथेष्ट रूपांतर भी कर सकते हैं। हमारा युग एक ऐसा ही संक्राति का युग है। जब कि हमें भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों और धर्मों की संस्कृतियों का समन्वय एवं संश्लेषण कर उन्हें मानव संस्कृति के एक महान विश्व संचरण के रूप में प्रतिष्ठित करना है। आज हमें मानव चेतना के क्षीर सागर को फिर से मथ कर उसके अंतस्तल में छिपे हुए रत्नों को पहचानना है और मौलिक अनुभूतियों के नवीन रत्नों को भी बाहर निकाल कर अपने युग पुरुष के स्वर्ण शुभ्र किरीट में उन्हें समय के अनुरूप नवीन सौन्दर्य बोध में जड़ना है, जिससे वह भावी मनुष्यत्व की गरिमा को वहन कर सके। इसलिये हमारे युग के साहित्यिकों तथा कलाकारों के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है, जिसे हम साहस, संयम, सद्भाव तथा सहिष्णुता से ही पूरा कर सकते हैं।

सत्ता के सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिये हमें व्यक्ति तथा विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिए। ईश्वर को मानने से मेरा यह अभिप्राय नहीं कि आप विधिवत् पूजा-पाठ अथवा जप-तप करें। यह तो धर्म का क्षेत्र है और आपके स्वभाव, रुचि तथा नाड़ियों के जीवन से संबंध रखने वाली बातें हैं। ईश्वर को मानने का व्यावहारिक रूप में एक कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त समझता हूँ कि वह अव्यक्त के, सूक्ष्म के, अंतर्चेतना के संचरणों से भी अपने को संयुक्त रखे, और उनके प्रकाश, उनके सौन्दर्य तथा शक्तियों का उपयोग कर समाज के अंतर्जीवन का निर्माण करे। उसके कंधों पर वास्तविकता

तथा विवेक का ही भार न हो, वे स्वप्नों के बोझ से भी झुके रहें।

संक्षेप में, मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओत-प्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव चेतना के आलोक को वितरण करें एवं लोक जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत सुरुचिपूर्ण तथा संपन्न बनाने में सहायक हों। हमारे युग के सांस्कृतिक सूत्र हैं,—मानव प्रेम, लोक जीवन की एकता, जीवन सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्व मानवता का निर्माण। यदि आप अपनी लेखनी और तूली द्वारा युग के इन स्वप्नों में रक्त मांस का सौन्दर्य तथा अपनी व्यापक अनुभूति से जीवन फूँक सकें तो आप अपने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य को उसी तरह निबाहेंगे जिस प्रकार एक राजनीतिक क्षेत्र का नायक लोक-संघर्ष के उत्थान-पतनों का संचालन कर जीवन की परिस्थितियों को विश्व-तंत्र का संतुलन प्रदान कर जन समुदाय को नवीन मानवता की ओर अग्रसर कर रहा है।

कलाकार के पास हृदय का यौवन होना चाहिए, जिसे धरती पर उड़ेल कर उसे जीवन की कुरूपता को सुंदर बनाना है। वह सर्वप्रथम सौन्दर्य-स्रष्टा है। कलाकार की सबसे बड़ी कृति वह स्वयं है। जब तक वह अपना बाहर-भीतर से परिमार्जन नहीं करेगा वह संस्कृति के दिव्य पावक तथा सौन्दर्य के स्वर्गीय आलोक का आदान-प्रदान नहीं कर सकेगा। बेसुरी हृदय वीणा से, जिसके तार चेतना के सूक्ष्म स्पर्शों के लिए नहीं सधे हैं, अंतर के संगीत की सृष्टि कैसे हो सकती है? अतएव आप जो स्वतंत्र भारत की चेतना के स्रष्टा हैं आपको अपने को इस महाप्राण देश के गौरव का वाहक बनाना चाहिए जिससे आप अंजलि भर-भर कर संस्कृति के स्वर्णिम पावक-कण जन समाज में वितरण कर सकें। तथास्तु।

---

# साहित्य की चेतना

*(एक अभिभाषण का अंश)*

मुझसे आप लोग किसी प्रकार के भाषण की आशा न करें, मैं आप लोगों से केवल मिलने आया हूँ। 'अध्यापन का कार्य मेरा क्षेत्र नहीं है किंतु मैं उसके उत्तरदायित्व को समझता हूँ। अतएव एक साधारण साहित्यसेवी के नाते मैं आपकी उपस्थिति का स्वागत करता हूँ और आप लोगों के साथ साहित्यिक वातावरण में साँस लेने का सुख अनुभव करता हूँ।'

आप केवल पाठ्य-पुस्तकों को रटकर ही साहित्य के अंतस्थल में नहीं पैठ सकते, और न उसका महत्व ही समझ सकते हैं। साहित्य की ओर आकर्षित होना और उसका रस ले सकना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य के मर्म को समझने का अर्थ है वास्तव में मानव जीवन के सत्य को समझना। साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव जीवन की गंभीर व्याख्या है। उसमें मानव चेतना की ऊँची चोटियों का प्रकाश, मनकी लम्बी चौड़ी घाटियों का छायातप, तथा जीवन की आकांक्षाओं का गहरा रहस्यपूर्ण अंधकार संचित है। उसमें मानव सभ्यता के युग-युग व्यापी संघर्ष का प्रच्छन्न इतिहास तथा मनुष्य के आत्म विजय का दर्शन अनेक प्रकार के आदर्शों, अनुभूतियों, रीति-नीतियों तथा भावनाओं की सजीव संवेदनाओं के रूप में संगृहीत है। यदि साहित्य को पढ़कर हम मनुष्य जीवन को संचालित करने वाली शक्तियों तथा उनके विकास की दिशा को नहीं समझ सके तो हम वास्तव में साहित्य के विद्यार्थी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि आप साहित्य को मनुष्य जीवन के सनातन संघर्ष से कोई विभिन्न वस्तु न समझें बल्कि उसे जीवन के दर्शन अथवा जीवन के दर्पण के रूप में देखें। उस दर्पण में जहाँ आप आत्म-चिन्तन द्वारा अपने मुख को पहचानना सीखें वहाँ अपनी सहानुभूति को व्यापक तथा गंभीर बनाकर उसके द्वारा अपने विश्व-रूप की अथवा मानव के विश्व

दर्शन की भी रूपरेखा का आभास प्राप्त करना सीखें। साहित्य के अध्ययन का अर्थ है रस द्वारा ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान ही शक्ति भी है। अतएव आप जब तक ज्ञान द्वारा शक्ति का संचय नहीं करेंगे तब तक आप युग-जीवन का संचालन भी नहीं कर सकेंगे, और मानव जीवन के शिल्पी भी नहीं बन सकेंगे। आपको मनुष्य के भीतरी जीवन का नेतृत्व करना है,—साहित्य का क्षेत्र अंत-र्जीवन का क्षेत्र है। इसलिए आपको अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आप लोग जो हिन्दी साहित्य द्वारा ही जीवन की प्रेरणा प्राप्त करना चाहते हैं आपको यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आज का साहित्य मानव का नवीन रूप से निर्माण कर रहा है। आज का मनुष्य रेडियो, वाक्चित्रों समाचार पत्रों आदि द्वारा समस्त विश्व के मन को धारण तथा वहन कर रहा है। वह विश्व-मन के स्थूल-सूक्ष्म प्रभावों से प्रभावित होकर नवीन रूप से संग-ठित हो रहा है। आज का साहित्य एक देशीय अथवा एक जातीय होकर उन्नति नहीं कर सकता, उसे सार्वभौम बनना ही होगा। आधुनिकतम हिन्दी साहित्य में आपको जो एक प्रगतिवाद की धारा मिलती हैं उसका वास्तविक संदेश यही है। मानव स्वभाव इतना दुरूह तथा जटिल है और जीवन की परिस्थितियों में इतना अधिक वैचित्र्य है कि संसार में कोई भी सिद्धांत अथवा वाद बहुमुखी हुए बिना नहीं रह सकता। प्रगतिवाद भी इससे मुक्त नहीं है। अतएव प्रगतिवाद के अंतर्गत आपको जो एक राजनीतिक संघर्ष से बोझिल विचार तथा भावना-धारा मिलती है उसे प्रगतिवाद का निम्नतम धरातल अथवा अस्थायी स्वरूप समझना चाहिए। अपने स्थायी अथवा परिपूर्ण रूप में वह एक सांस्कृतिक धरातल की सृजनात्मक चेतना है जिसका उद्देश्य विभिन्न संस्कृतियों धर्मों तथा नैतिक दृष्टि-कोणों के विभेदों से मनुष्य की चेतना को मुक्त कर उसे युग परिस्थितियों के अनुरूप व्यापक मनुष्यत्व में सँवारना है। वे परिस्थितियाँ केवल बाहरी आर्थिक तथा राजनीतिक आधारों तक ही सीमित नहीं हैं उनका संबंध मनुष्य जीवन की अंतरतम अनुभूतियों तथा गहनतम विश्वासों से भी है। ये अंत-र्विश्वास, जिन्हें आप चाहें आदर्श कहें अथवा नैतिक दृष्टिकोण, पिछले युगों

की आध्यात्मिक तथा भौतिक परिस्थितियों से संबद्ध मानव चेतना के वे अभ्यास हैं जिनका हमें इस युग में अधिक ऊर्ध्व, गहन तथा व्यापक मनुष्यत्व के रूप में उन्नयन करना है। इसके लिए सभी देशों के महाप्राण तथा युग प्रबुद्ध साहित्यिक साधना कर रहे हैं। अतएव वह साहित्य जो संप्रति मानव जाति की अंतरतम एकता के सिद्धांतों से अनुप्राणित है, मानव जाति के विभिन्न श्रेणी वर्गों तथा संप्रदायों के बीच के व्यवधानों को हटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो मानव के विश्व सम्मेलन के लिए नवीन नैतिक दृष्टिकोण, नवीन सौन्दर्य बोध तथा नवीन सांस्कृतिक उपादानों का सृजन कर रहा है, वही प्रगतिशील साहित्य वास्तव में इस युग के साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है। ऐसा साहित्य पिछले युगों के समस्त वाङ्मय में जो कुछ भी संग्रहणीय है उसका सम्पूर्ण उपयोग करने के साथ ही उन नवीन जीवन-मानों तथा सूक्ष्म अनुभूतियों पर भी प्रयोग कर रहा है जिनके समावेश से इस युग की भाप, बिजली और अणु शक्ति से अति सक्रिय परिस्थितियाँ एक सार्वभौम मानवीय सौन्दर्य से विभूपित हो सकें तथा उनमें एक व्यापक सामाजिक सामंजस्य स्थापित हो सके।

आज के साहित्य के विद्यार्थी को अपने युग की चेतना के शिखर पर खड़ा होकर पिछले युगों की ऊँची-नीची तलहटियों तथा संकीर्ण अँधेरी घाटियों पर दृष्टिपात करना चाहिए तथा उनके अनेक छायाओं से भरे हुए सौन्दर्य का निरीक्षण कर, उनके भावनाओं तथा विचारों के ऋजु कुंचित नद निर्झरों का कलरव श्रवण कर, उनके तरह-तरह की राग विराग की संवेदनाओं से उच्छ्वसित वातावरण को साँसों से हृदय में भरकर मानव सभ्यता के संघर्ष संकुल विकास का मानचित्र बनाना चाहिए। जिससे भिन्न-भिन्न युगों के आदर्शों और वादों को यथास्थान संयोजित कर वह मानव चेतना के इतिहास का यथोचित अध्ययन कर सके और उसके भविष्य के गौरव का अनुमान लगा सके। इसी प्रकार की साहित्य-साधना में मैं आपको अश्रांत रूप से तत्पर देखना चाहता हूँ। साहित्य तथा कला का एक बाहरी स्वरूप भी होता है, उसका भी अपना एक जीवन होता है और वह भी परस्पर के आदान-प्रदान, अध्ययन-मनन आदि से घटता-बढ़ता तथा बदलता रहता है। वह स्वरूप लेखकों के व्यक्तित्वों, उनकी शैलियों

साहित्यिक प्रथाओं, प्रचलनों, तथा छंदों अलंकारों का रूप है, जिसका अध्ययन तथा अभ्यास भी साहित्य-साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस स्वरूप का ज्ञान जैसे साहित्य के स्वरों का, उसके सा रे ग म का ज्ञान है, जिसकी साधना से आप साहित्य की चेतना को भावना का महाप्राण रूपविधान पहनाते हैं, और उसके सौन्दर्य से हृदय को प्रभावित करते हैं। इसे आप साहित्य का गौण अथवा स्थूल स्वरूप कह सकते हैं। भाव और भाषा में भाव को ही प्रधानता देनी चाहिए किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भाषा के प्रति हमें विरक्त हो जाना चाहिए। चेतना तथा पदार्थ की तरह भाव तथा भाषा ऐसे अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भले ही की जा सके किंतु अभिव्यक्ति असंभव है। भावना की चेतना के साथ ही इस युग में भाषा के सौन्दर्य में भी परिवर्तन आ रहा है। भाषा अधिक सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न हो गई है। ध्वनि, व्यंजना तथा प्रतीकों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। एवं भिन्न-भिन्न साहित्यों के अनुशीलन के प्रभाव से बाह्य विन्यास तथा अलंकार आदि भी नवीन रूप ग्रहण कर रहे हैं। पर इन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना अध्यापकों का काम है और मुझे विश्वास है कि आप साहित्य के उस अंग को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखेंगे।

अंत में एक हिन्दी साहित्यसेवी के नाते मैं आपके प्रति अपनी शुभ कामनाएँ तथा सद्भावनाएँ प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी साहित्य शीघ्र ही मानव की नवीन चेतना को वाणी देकर अपने प्रेमियों को अधिक से अधिक मानसिक वैभव प्रदान कर सकेगा, उनके हृदयों में व्यापक मनुष्यत्व का स्पंदन, उनके पलकों में नवीन सौन्दर्य के स्वप्न भर सकेगा तथा आज के साहित्य के विद्यार्थी कल के सत्य द्रष्टा तथा सौन्दर्य स्रष्टा बन सकेंगे।...

---

# मेरी पहिली कविता

जहाँ तक मुझे स्मरण है मेरी पहिली कविता में कोई विशेषता नहीं थी, जैसे-जैसे मेरे मन का अथवा मेरी भावना या चेतना का विकास हुआ और मेरा जीवन का अनुभव गंभीर होता गया, मेरी कविता में भी निखार आता गया।

मेरी पहिली कविता एक न होकर अनेक थीं। अपने किशोर मन के आवेग और उत्साह को अथवा कविता के प्रति अपने नवीन आकर्षण को 'ताल और लय' में बाँधने की आकुलता में मैं अनेक छंदों में अनेक पद साथ ही लिखा करता था। किसी छंद में चार चरण और किसी में आठ या बारह चरण लिखकर मेरा सद्यःस्फुट काव्य प्रेम मेरी अस्फुट भावना को अनेक रूपों में व्यक्त कर संतुष्ट होता था। इस प्रकार के मेरे समस्त प्रारंभिक किशोर प्रयत्न मेरी पहिली कविता कहे जा सकते हैं क्योंकि उन सबका एक ही विषय होता और उनमें एक ही भावना और प्रायः एक ही प्रकार के मिलते-जुलते शब्द रहते थे जो केवल विभिन्न छंदों और तुकों के कारण अलग-अलग रचना खंड प्रतीत होते थे। उदाहरण स्वरूप हमारे घर के ऊपर एक गिरजाघर था जहाँ प्रत्येक रविवार को सुबह-शाम घंटा बजा करता था। यह अल्मोड़े की बात है, और जैसा कि पहाड़ी प्रदेशों में प्रायः हुआ करता है हमारा घर नीचे घाटी में था और गिरजाघर ऊपर सड़क के किनारे। गिरजे के घंटे की ध्वनि मुझे अत्यन्त मधुर तथा मोहक प्रतीत होती थी। गिरजे के घंटे पर मैंने प्रायः रविवार के दिन अनेक छंदों में अनेक कविताएं लिखी हैं जिन्हें प्रयत्न करने पर भी अब मैं स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। उन सब रचनाओं में प्रायः यही आशय रहता था कि "हम लोग बेख़बर सोए हुए हैं। यह दुनियाँ एक मोह निद्रा है जिसमें हम स्वप्नों की मोहक गलियों में भटक रहे हैं। गिरजे का घंटा अपने शांत मधुर आह्वान से हमें जगाने की चेष्टा कर रहा है और हमें प्रभु के मंदिर की ओर बुला रहा है जहाँ दुनियाँ की मोह-निशा का उज्ज्वल प्रभात हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वरीय प्रेम का जीवन ही केवल मात्र पवित्र

जीवन है। प्रभु ही हमें पापों से मुक्ति प्रदान कर सकते हैं" इत्यादि। अल्मोड़े में पादरियों तथा ईसाई धर्म प्रचारकों के भाषण प्रायः ही सुनने को मिलते थे, जिनसे मैं छुटपन में बहुत प्रभावित रहा हूँ। वे पवित्र जीवन व्यतीत करने की बातें करते थे और प्रभु की शरण आने का उपदेश देते थे, जो मुझे बहुत अच्छा लगता था। गिरजे के घंटे की ध्वनि से प्रेरणा पाकर मैंने जितनी रचनाएँ लिखी हैं उन सब में इन्हीं पादरियों के उपदेशों का सार भाग किसी न किसी रूप में प्रकट होता रहा है। 'गिरजे का घंटा' शीर्षक एक रचना मैंने अपने आत्म विश्वास तथा प्रथम उत्साह के कारण श्री गुप्त जी के पास भेज दी थी, जिन्होंने अपने सहज सौजन्य के कारण उसकी प्रशंसा में दो शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया था।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मेरे भाई एक बार अल्मोड़े में किसी मेले से कागज़ के फूलों का एक गुलदस्ता ले आए, जिसे उन्होंने अपने कमरे में फूलदान में रख दिया था। मैं जब भी अपने भाई के कमरे में जाता था कागज़ के उन रंग-बिरंगे फूलों को देखकर मेरे मन में अनेक भाव उदय हुआ करते थे। मैं बचपन से ही प्रकृति की गोद में पला हूँ। कागज़ के वे फूल अपनी चटक-मटक से मेरे मन में किसी प्रकार की भी सहानुभूति नहीं जगा पाते थे। मैं चुपचाप अपने कमरे में आकर अनेक छंदों में अनेक रूप से अपने मन के उस असंतोष को वाणी देकर कागज़ के फूलों का तिरस्कार किया करता था। अंत में मैंने सुस्पष्ट शब्दों में अपने मन के आक्रोश को एक चतुर्दशपदी में छंदबद्ध करके उसे अल्मोड़े के एक दैनिक पत्र में प्रकाशनार्थ भेज दिया जिसका आशय इस प्रकार था : हे कागज़ के फूलों, तुम अपने रूप-रंग में उद्यान के फूलों से अधिक चटकीले भले ही लगो पर न तुम्हारे पास सुगंध है, न मधु। तुम स्पर्श को भी तो वैसे कोमल नहीं लगते हो। हाय, तुम्हारी पंखड़ियाँ कभी कली नहीं रहीं न वे धीरे-धीरे मुसकुराकर किरणों के स्पर्श से विकसित ही हुईं। अब तुम्हीं बतलाओ तुम्हारे पास भ्रमर किस आशा से, कौन सी प्रेम-याचना लेकर मँडराए? क्या तुम अब भी नहीं समझ पाए कि झूठा, नकली और कृत्रिम जीवन व्यतीत करना कितना बड़ा अभिशाप है? हृदय के

आदान-प्रदान के लिये जीवन में किसी प्रकार की तो सच्चाई होनी चाहिए। इत्यादि......।

एक और उदाहरण लीजिए : मेरे फुफेरे भाई हुक्का पिया करते थे। सुबह-शाम जब भी मैं उनके पास जाता उन्हें हुक्का पीते पाता था। उनका कमरा तम्बाकू के धुएं की नशीली गंध से भरा रहता था। उन्हें धुआँ उड़ाते देखकर तम्बाकू के धुएं पर मैंने अनेक छंद लिखे हैं, जिनमें से एक रचना अल्मोड़े के दैनिक में प्रकाशित भी हुई है। इस रचना की दो पंक्तियाँ मुझे स्मरण हैं जो इस प्रकार हैं—

**सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में**
**रखते, जहाँ बसे हैं भगवान विश्वस्वामी।**

इस रचना में मैंने धुएं को स्वतंत्रता का प्रेमी मानकर उसकी प्रशंसा की थी। आशय कुछ-कुछ इस प्रकार था :—"हे धूम ! तुम्हें वास्तव में अपनी स्वतंत्रता अत्यन्त प्रिय है। मनुष्य तुम्हें सुगंधित सुवासित कर, तुम्हें जल से सरस शीतल बनाकर अपने हृदय में बंदी बना कर रखना चाहता है, उस हृदय में जिसमें भगवान का वास है। किन्तु तुम्हें अपनी स्वतंत्रता इतनी प्रिय है कि तुम क्षण भर को भी वहाँ सिमट कर नहीं रह सकते और बाहर निकल कर इच्छानुरूप चतुर्दिक व्याप्त हो जाना चाहते हो। ठीक है, स्वतंत्रता के पुजारी को ऐसा ही होना चाहिए, उसे किसी प्रकार का हृदय का लगाव या बंधन नहीं स्वीकार होना चाहिए......इत्यादि।

इस प्रकार अपने आस-पास से छोटे-मोटे विषयों को चुन कर मैं अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना में तल्लीन रहा हूँ। मेरे भावना तथा विचार तो उस समय अत्यन्त अपरिपक्व एवं अविकसित रहे ही होंगे किन्तु उन्हें छन्दबद्ध करने में तब मुझे विशेष आनन्द मिलता था। छन्दों के मधुर संगीत ने मुझे इतना मोह लिया था कि मैंने अनेक पत्र भी उन दिनों छन्दों ही में गूँथ कर लिखे हैं। यदि प्रारम्भिक रचनाओं के महत्व के सम्बन्ध में तब थोड़ा भी ज्ञान मुझे होता तो मैं उन कविताओं तथा पत्रों की प्रतिलिपियाँ अपने पास अवश्य सुरक्षित रखता। अब मुझे इतना ही स्मरण है कि अपने पास-पड़ोस और दैनंदिन की

परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होकर ही मेरी प्रारम्भिक रचनाएं निःसृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना को भाषा की अस्पष्ट तुतलाहट में बाँध कर मैं अपने छन्द-रचना के प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ। एक प्रकार से आरम्भ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारों ओर धूलि की ढेरी में अनजान बिखरे पड़े मिले हैं।

वैसे एक प्रकार से मैं अलमोड़े आने से और भी बहुत पहिले छन्दों की गलियों में भटकता और चक्कर खाता रहा हूँ। तब मैं अपने पिता जी के साथ कौसानी में रहता था और वहीं ग्राम पाठशाला में पढ़ता था। मेरे फुफेरे भाई तब वहाँ अध्यापक थे और मेरे बड़े भाई बी० ए० की परीक्षा दे चुकने के बाद स्वास्थ्य सुधारने के लिए वहाँ आये हुए थे। मेरे बड़े भाई भी उन दिनों कविता किया करते थे। उनके अनेक छन्द मुझे अब भी कंठस्थ हैं। वह अत्यन्त मधुर लय में राजा लक्ष्मण सिंह कृत मेघदूत के अनुवाद को भाभी को सुनाया करते थे। शिखरिणी छन्द तब मुझे बड़ा प्रिय लगता था और मैं, "सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ..." आदि पंक्तियों को गुनगुना कर उन्हीं के अनुकरण में लिखने की चेष्टा करता था। कभी-कभी मैं भाई साहब के मुँह से कोई ग़जल की धुन सुन कर उस पर भी लिखने की कोशिश करता था। लेकिन अब मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि मेरी तब की रचनाओं में छन्द अवश्य ही ठीक नहीं रहता होगा और मैं बाल्य-चापल्य के कारण छन्द की धुन में बहुत कुछ असम्बद्ध और बेतुका लिखता रहा हूँगा। मुझे स्मरण है, एक बार भाई साहब को मेरी पीले कागज की कापी मिल गई थी और उन्होंने मेरे गज़लों की खूब हँसी उड़ाई थी। अतएव उस समय की कविता को मैं अपनी पहिली कविता नहीं मान सकता।

व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध रूप से लिखना तो मैंने पाँच-छः साल बाद अल्मोड़ा आकर ही प्रारम्भ किया। तब स्वामी सत्यदेव आदि अनेक विद्वानों के व्याख्यानों से अल्मोड़े में हिन्दी के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो चुका था, नगर में शुद्ध साहित्य समिति के नाम से एक बृहत् पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी थी, और नागरिकों का मातृभाषा के प्रति आकर्षण विशेष रूप से

अनुराग में परिणत हो चुका था। मुझे घर में तथा नगर में भी नवोदित साहित्यिकों, लेखकों एवं कवियों का साहचर्य सुलभ हो गया था। मैंने हिन्दी पुस्तकों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था, विशेष कर काव्य-ग्रन्थों का, और 'नंदन पुस्तकालय' के नाम से घर में एक लाइब्रेरी की भी स्थापना कर दी थी। इसमें द्विवेदी युग के कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त मध्य युग के कवियों के ग्रन्थ, तथा प्रेमचंद जी के उपन्यासों के साथ बंगला, मराठी आदि उपन्यासों के अनुवाद भी रख लिये थे और कुछ पिंगल अलङ्कार आदि काव्यग्रन्थ भी जोड़ लिये थे। सरस्वती, मर्यादा आदि उस समय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाएँ भी मेरे पास आने लगी थीं और मैंने नियमित रूप से हिन्दी साहित्य का अध्ययन आरम्भ कर दिया था।

आदरणीय गुप्त जी की कृतियों ने और विशेषकर भारत-भारती, जयद्रथ वध तथा विरहिणी व्रजांगना ने तब मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया था। प्रिय प्रवास के छन्द भी मुझे विशेष प्रिय लगते थे। 'कविता कलाप' को मैं कई बार पढ़ गया था। सरस्वती में प्रकाशित मकुटधर पांडेय जी की रचनाओं में नवीनता तथा मौलिकता का आभास मिलता था। इन्हीं कवियों के अध्ययन तथा मनन से प्रारम्भ में मेरी काव्य साधना का श्रीगणेश हुआ और मैंने सुसङ्गठित रूप से विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग करने सीखे। छन्दों की साधना में मुझे विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। श्रवणों को सङ्गीत के प्रति अनुराग होने के कारण तथा लय को पकड़ने की क्षमता होने के कारण सभी प्रकार के छोटे-बड़े छन्द धीरे-धीरे मेरी लेखनी से सरलता पूर्वक उतरने लगे। जो भी विषय मेरे सामने आते और जो भी विचार मन में उदय होते उन्हें मैं नये-नये छन्दों में नये-नये रूप से प्रकट करने का प्रयत्न करता रहा। काव्य साधना में मेरा मन ऐसा रम गया कि स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों की ओर मेरे मनमें अरुचि उत्पन्न हो गई और मैंने खेल-कूद में भी भाग लेना बन्द कर दिया। इन्हीं दिनों अल्मोड़े के हाई स्कूल में पढ़ने के लिए एक नवयुवक आकर हमारे मकान में रहने लगे जिन्हें साहित्य से विशेष अनुराग था। उनके संपादन में हमारे घर से एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकलने लगा जिसमें नियमित

रूप से दो एक वर्ष तक मेरी रचनाएं निकलती रहीं। उनके साहचर्य से मेरे साहित्यिक प्रेम को प्रगति मिली और नगर के अनेक नवयुवक साहित्यिकों से परिचय हो गया। मेरे मित्र अनेक प्रकाशकों के सूचीपत्र मंगवाकर पुस्तकों तथा चित्रों के पार्सल मँगवाते और उन्हें हम लोगों से बेंचा करते थे। इस प्रकार उनकी सहायता से हिन्दी की अनेक उत्कृष्ट प्रकाशन संस्थाओं तथा उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का मेरा ज्ञान सहज ही बढ़ गया।

हरिगीतिका, गीतिका, रोला, वीर, मालिनी, मदक्रान्ता, शिखरिणी आदि छन्दों में मैंने प्रारम्भ में अनेकानेक प्रयोग किये हैं। और छोटे-बड़े अनेक गीतों में प्रकृति-सौंदर्य का चित्रण भी किया है। प्रकृति-चित्रण के मेरे दो-एक गीत सम्भवतः 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका में भी प्रकाशित हुए हैं। 'भारत-भारती' के आधार पर अनेक राष्ट्रीय रचनाएं तथा 'कविता कलाप' के अनुकरण में राजा रवि वर्मा के तिलोत्तमा आदि चित्रों का वर्णन भी अपने छन्दों में मैंने किया है। अनेक पत्र तथा कल्पित प्रेम-पत्र लिखकर भी, जो प्रायः सखाओं के लिये होते थे, मैंने अपने छंदों के तारों को साधा है। अपने प्रारम्भिक काव्य साधना काल में, न जाने क्यों, कविता का अभिप्राय मेरे मन में छंदबद्ध पंक्तियों तक ही सीमित रहा है। छंदों में संगीत होता है यह बात मुझे छंदों की ओर विशेष आकृष्ट करती थी और अनुप्रासों या ललित मधुर शब्दों द्वारा छंदों में संगीत की झंकारें पैदा करने की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से रहता था। कविता के भाव पक्ष से मैं इतना ही परिचित था कि कविता में कोई अद्भुत या विलक्षण बात अवश्य कही जानी चाहिए। कालिदास की अनोखी सूझ की बात मैं अपने भाई साहब से बहुत छुटपन में ही सुन चुका था, जब वह भाभी को मेघदूत पढ़ाया करते थे। किन्तु उस विलक्षण भाव को संगीत के पंख लगाकर छंद में प्रवाहित करने की भावना तब मुझे विशेष आनन्द देती थी और मैं अपनी छंद-साधना में इस पक्ष पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ से ही नहीं भूला हूँ।

मेरी उस प्रारम्भिक काल की रचनाएं, जिन्हें मैं अपनी पहिली कविता कहता हूँ, न जाने, पतझर के पत्तों की तरह मर्मर करती हुई, कब और कहाँ

उड़कर चली गई, यह मैं नहीं कह सकता। अपनी बहुत सी रचनाएं काशी जाने से पहिले मैं अलमोड़े ही में छोड़ गया था जो मुझे घर की अव्यवस्था के कारण पीछे नहीं मिलीं। संभव है उन्हें कोई ले गया हो या किसी ने रद्दी कागजों के साथ फेंक दिया हो या बाज़ार भेज दिया हो। वीणा-काल से पहिले के दो कविता संग्रह, जब मैं हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस में रहता था, मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण, जल कर राख हो गये थे। कीट्स और शेली के दो सचित्र संग्रह भी, जो मुझे प्रो० शिवाधार पांडेय जी ने पढ़ने के लिये दिये थे, उनके साथ ही भस्म हो गये। अपने उन दो संग्रहों के जल जाने का दुःख मुझे बहुत दिनों तक रहा। उनमें मेरी काव्य-साधना के द्वितीय चरण की रचनाएं थीं। मेरी आँखों में अब उन अस्फुट प्रयासों का क्या महत्व होता यह तो मैं नहीं कह सकता, पर ममत्व की दृष्टि से वे मुझे अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना के साक्षी के रूप में सदैव प्रिय रहते, इसमें मुझे संदेह नहीं। अपने कवि जीवन के प्रथम उषाकाल में स्वर्ग की सुन्दरी कविता के प्रति मेरे हृदय में जो अनिवर्चनीय आकर्षण, जो अनुराग तथा उत्साह था, उसका थोड़ा-सा भी अभास क्या मैं इस छोटी-सी वार्ता में दे पाया हूँ? शायद नहीं।

---